हिन्दी उपन्यासों में विकलांगों का जीवन-संघर्ष : 'रंगभूमि' के विशेष संदर्भ में

(एम. फिल उपाधि हेतु लघु शोध-प्रबंध)

2005

Jawaharlal Nehru University
Library

शोध-निर्देशक
प्रो. पुरुषोत्तम अग्रवाल

शोधार्थी
केदार कुमार मंडल

भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली 110067

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
Centre of Indian Languages
School of Language, Literature & Culture Studies
New Delhi-110067, INDIA

Dated : 27-07-2005

DECLARATION

I declare that the work done in this Dissertation entitled **"HINDI UPANYASON MEIN VIKALANGON KA JIVAN SANGHARSHA: 'RANGBHUMI' KE VISHESH SANDARBH MEIN"** by me is an original research work and has not been previously submitted for any other degree in this or any other University/ Institution.

KEDAR KUMAR MANDAL
RESEARCH SCHOLAR

PROF. PURUSHOTTAM AGRAWAL
SUPERVISOR
Centre of Indian Languages
School of Language, Literature
and Culture Studies
Jawaharlal Nehru University
New Delhi-110067

PROF. MOHD. SHAHID HUSAIN
CHAIRPERSON
Centre of Indian Languages
School of Language, Literature
and Culture Studies
Jawaharlal Nehru University
New Delhi-110067

GRAM :JAYENU TEL.: (91-001) 6107676, 6167557TELEX : 031-73167 JNU IN FAX : 91-011-6865886

परम पूज्या
दादी माँ को....।

अनुक्रम

प्रस्तावना (i-iii)

प्रथम अध्याय 1-26

भारतीय समाज में विकलांगों का जीवन संघर्ष

भारतीय क्लासिकल ग्रंथों में विकलांगता–भारतीय परिप्रेक्ष्य में

पश्चिमी क्लासिकल ग्रंथों में विकलांगता–पश्चिमी समाज के परिप्रेक्ष्य में

भारतीय समाज में विकलांगता – एक संक्षिप्त परिचय

भारत में विकलांग जन और सरकार की भूमिका

विकलांगजन और शिक्षा संबंधी समस्याएँ

द्वितीय अध्याय 27-102

हिन्दी कथा साहित्य में विकलांग-एक सर्वेक्षण

1.	*राजा राधिका रमण प्रसाद सिंह,*	*सूरदास*	*(1942)*
2.	*फणीश्वरनाथ रेणु,*	*मैला आँचल*	*(1954)*
3.	*श्री लाल शुक्ल,*	*राग-दरबारी*	*(1965)*
4.	*अमृत लाल नागर,*	*खंजन नयन*	*(1981)*
5.	*प्रियंवद,*	*वे वहाँ कैद हैं*	*(1994)*
6.	*मृदुला सिन्हा,*	*ज्यों मेंहदी को रंग*	*(2003)*
7.	अलका सरावगी,	कोई बात नहीं	(2004)

तृतीय अध्याय 103-128

सूरदास की 'रंगभूमि'

चतुर्थ अध्याय 129-132

'रंगभूमि' के बाद कुछ विशेष प्रश्न

उपसंहार 133-135

ग्रन्थानुक्रमणिका 136-141

आधार ग्रन्थ

संदर्भ ग्रन्थ

पत्र-पत्रिकाएं

प्रस्तावना

लघु शोध प्रबंध जैसा है, आपके सामने है। विकलांगता विषय पर कार्य करने के पीछे यह तर्क देना गैर जिम्मेदाराना होगा कि मैं स्वयं विकलांग हूँ। सच्चाई यह है कि मैंने स्वयं को कभी विकलांग नहीं माना। यद्यपि कुछ लोग विकलांगों को विकलांग कहतें हैं और मानते हैं। यह उनकी महानता भी हो सकती है नादानी भी। मेरा आग्रह सिर्फ इतना था कि यह विषय बिल्कुल अछूता था। इसलिए मैंने इस विषय को चुना। हाँ, हटकर कुछ करने की उत्कंठा हमेशा रही । विषय तय करना भी मुश्किल भरा कार्य होता है। खासकर तब जब आप कुछ अलग करना चाहते हों। इस हटकर करने की चाहत ने कई सवाल भी खड़े किये। कुछ ने कहा कि बहुत कम उपन्यास ही मिल पायेंगे जिसमें विकलांगता की चर्चा है तो किसी ने इसकी सार्थकता पर प्रश्न चिन्ह लगाया कि ऐसा कार्य करने पर इसे साहित्यिक कार्य माना जाएगा या नहीं, फिर कहीं नौकरी मिलने में दिक्कत न हो। किंकर्त्तव्यविमूढ़ता की स्थिति बन गई थी। इस संकट की घड़ी में एक ही सहारा था—अपने गुरुवर शोध निर्देशक प्रो. पुरुषोत्तम अग्रवाल का सान्निध्य और मार्गदर्शन। उन्होंने मेरे कुछ ऊटपटांग सवालों को भी धैर्यपूर्वक सुना। अंततः एक सही दृष्टि (vision) बन पायी। उनकी यह सलाह भी मेरे लिए महत्वपूर्ण साबित हुआ, कि मैला आँचल के बौने पात्र बामनदास को भी मानवीय आधार पर विकलांगता की श्रेणी में रखा जाना चाहिए। यह मुझे एक नई दृष्टि लगी। इस बातचीत में मिसेज अग्रवाल ने भी सराहनीय ढंग से भाग लिया, खासकर दृष्टि विकसित करने में। पितृवत तथा मातृवत स्नेह और मार्गदर्शन के लिए दोनों को हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं।

लघु शोध प्रबंध का पहला अध्याय 'भारतीय समाज में विकलांगों का जीवन संघर्ष' है। इसमें विकलांगता को लेकर भारतीय क्लासिकल ग्रंथ और पश्चिमी क्लासिकल ग्रंथ में समानता विशिष्टता और विभिन्नता को दिखलाया गया है। साथ ही भारतीय समाज और पश्चिमी समाज

विशिष्टता और विभिन्नता को दिखलाया गया है। साथ ही भारतीय समाज और पश्चिमी समाज के अंतर को भी दिखलाया गया है। भारतीय समाज में विकलांगों के प्रति दृष्टिकोण तथा विकलांगों का समाज और सरकार से अपेक्षाओं को विस्तार दिया गया है। गैर सरकारी संगठनों की भूमिका पर विचार विमर्श किया गया है।

दूसरे अध्याय में हिन्दी कथा साहित्य में विकलांगों का वर्णन है, प्रेमचंद के रंगभूमि से लेकर अलका सरावगी के 'कोई बात नहीं' उपन्यास तक। तीसरा अध्याय सूरदास की 'रंगभूमि' है। कैसे एक नेत्रहीन विकलांग पात्र अपनी नैतिकता ईमानदारी और चारित्रिक शुचिता को संग्राम का हथियार बनाता है। कैसे एक साधारण विकलांग से असाधारण विकलांग बनता है। राजकीय सत्ता और प्रशासन को कैसे सोचने के लिए बाध्य करता है। अध्याय इसी का बयान करता है। चौथा अध्याय बहुत छोटा है 'रंगभूमि' के बाद कुछ विशेष प्रश्न। विकलांगता का कथा प्रतिमान होना चाहिए? प्रेमचंद ने सूरदास का चित्रण जिस रूप में किया है क्या उससे भी बेहतर हो सकता है। इन्हीं सारे सवालों का इसमें समेटा गया है।

भारतीय भाषा केन्द्र के प्राध्यापकों में प्रो. मैनेजर पांडेय, डॉ. रणजीत कुमार साहा, डॉ. ओमप्रकाश सिंह का स्नेह बराबर मिलता रहा है।

अन्य सेन्टर के प्राध्यापकों में डा. जी. एन. कर्ण, डॉ. एस. एम. मालाकार, डॉ. ख़्वाजा इकरामुद्दीन से रोचक तथ्यों की जानकारी मिली, इसके लिए वे भी धन्यवाद के पात्र हैं।

श्री शिवनाथ सिंह, गंगा प्रसाद, रीतलाल मंडल, देवेन्द्र कुमार देवेश, निखिल जैन, तारा प्रकाश, डॉ. गोपा जोशी, प्रताप ने समय-समय पर उत्साहवर्धन करते रहे हैं।

NCPEDP के निदेशक जावेद आबिदी ने विकलांगता को लेकर तथ्यपरक जानकारी मिलती रही।

चैरिटेबल बर्डस हॉस्पिटल नवीन शाहदरा, नई दिल्ली के अध्यक्ष जनेश जैन और सचिव निर्मल जैन और धरमधुरंधर महाराज जी का विशेष रूप से आभार व्यक्त करना चाहता हूँ जिन्होंने मुझे समय पर मोटराइज्ड कैनेटिक बाइक दिया, जिससे मुझे शोध के लिए सामग्री संचय करने में अभूतपूर्व मदद मिली।

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान परिषद के कर्मचारियों का भी भरपूर सहयोग मिला।

जे. एन. यू. के सीनियर लोगों में अभिषेक जी, रामदर्शन यादव, नन्दलाल स्वर्णकार, सरवरउल हुदा, सुनील कुमार 'सुमन' सुमित सिंह, उत्तम तथा समकक्ष साथियों में कवितेन्द्र, जयकौशल, धनंजय, ज्ञानेन्द्र, राजेश कुमार राजन, का प्रशंसनीय सहयोग मिला।

परिवार के सदस्यों में परम पूज्या दादी माँ, छोटे दादा आशो मंडल एवं माताजी-पिताजी को आभार व्यक्त करना चाहूँगा, जिनका मानसिक तथा आर्थिक सहयोग हमेशा मिलता रहा। भाई उमेश, दिनेश, बहन प्रतिमा, संगीता का उत्साहवर्द्धक स्नेह और सहयोग मिलता रहा। छोटा भाई राजेश हमेशा लक्ष्मण की भांति सेवा के लिए तत्पर रहा। भतीजी प्रतिभा, भतीजा आलोक, भांजी नेहा की तुतली आवाज हमेशा रोमांचित करती रही।

जया जी को मैं विशेष रूप से आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने बहुत कम समय में लघु-शोध प्रबंध को तैयार करने में मेरी आशानुरूप मदद की।

अंत में, अपनी तज़ाकी दोस्त तहमीना निगाज़ोवा को आभार व्यक्त करना चाहूँगा, जो हमेशा ई-मेल के माध्यम से मेरा उत्साहवर्द्धन करती रहीं हैं।

केदार कुमार मंडल

दिनांक
161, कावेरी छात्रावास
जे. एन. यू., नई दिल्ली-110067

प्रथम अध्याय

भारतीय समाज में विकलांगों का जीवन संघर्ष

- *भारतीय क्लासिकल ग्रंथों में विकलांगता–भारतीय परिप्रेक्ष्य में*
- *पश्चिमी क्लासिकल ग्रंथों में विकलांगता–पश्चिमी समाज के परिप्रेक्ष्य में*
- *भारतीय समाज में विकलांगता – एक संक्षिप्त परिचय*
- *भारत में विकलांग जन और सरकार की भूमिका*
- *विकलांगजन और शिक्षा संबंधी समस्याएँ*

प्रथम अध्याय

भारतीय समाज में विकलांगों का जीवन संघर्ष

कहा जाता है कि—साहित्य समाज का दर्पण है, जिसमें समाज प्रतिबिंबित होता है। यानि समाज जिस तरह का होगा प्रतिबिंबन उसी प्रकार का होगा। लेकिन कभी-कभी दर्पण के सामने समाज के असली चेहरे को नहीं लाया जाता है, फलस्वरूप समाज का यथार्थ चित्रण छूट जाता है। दर्पण की भी एक सीमा होती है। यह न तो अपनी तरफ से कुछ देख सकता है और न कुछ कह सकता है। यही कारण है कि समाज के कुछ वर्गों का चित्रण ईमानदारी से नहीं हो पाया है। भारतीय जनसंख्या का करीब 10% विकलांग हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के इतने वर्ष बाद भी आखिर क्या कारण है, इस वर्ग का समाज में हाशिये पर होने का? यह जनसमुदाय जहाँ एक ओर समाज की मुख्यधारा से वंचित है, वहीं साहित्य में इन्हें यदा-कदा ही नोटिस लिया गया है। अधिकांश साहित्यकारों ने इन्हें दीन-हीन तथा दया के पात्र के रूप में चित्रित किया है। उनके अंतःस्थल में न किसी के झाँकने की कोशिश की और न ही पूछा गया कि उनके भी कोई सपने हैं।

भारतीय समाज में पहले हम चाहते हैं कि भारतीय 'क्लासिकल लिटरेचर' और विश्व 'क्लासिकल लिटरेचर' में विकलांगता को लेकर एक संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जाय।

भारतीय क्लासिकल ग्रंथों में विकलांगता—भारतीय परिप्रेक्ष्य में :—

जरूरतमंदों, गरीबों, आश्रितों और बेसहाराओं की मदद करना भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का अभिन्न अंग रहा है। सामंजस्य स्थापित करने की अचूक क्षमता है। भारतीय धर्म करुणा, दया, दान-पुण्य और परोपकार पर बल देता है। इस परंपरा के अनुरूप समाज के उपेक्षितों को हर संभव सहायता अर्पित करने की परंपरा है। भारतीय समाज में प्रचलित लोक कथाओं, दंत कथाओं, पुरानी साहित्यिक रचनाओं और स्मृतियों में इसे देखा जा सकता है।

हिन्दू धर्म की 'क्लासिकल' रचनाओं में विकलांगता और अपंगता की चर्चाएँ हैं। यहाँ तक कि वैदिक ग्रंथों में भी। डा. जी. एन. कर्ण ने अपनी पुस्तक यूनाइटेड नेशन्स एण्ड राइट्स ऑफ डिसेब्ल्ड परसन्स' में लिखा है कि–"**उदाहरण के लिए विष्णु का अवतारवामन (बौना) के रूप में है। 'रामायण' में कुबड़ी मंथरा दासी राम के राज्याभिषेक की चुगली (कुटनी) करती है। यद्यपि मंथरा का चित्रण एक दुष्ट पात्र के रूप में हुआ है। इसी प्रकार ऋग्वेद में भी अपाहिजों और जरूरत मंद लोगों को दान देने की चर्चा है। श्री मद्भागवत गीता में देश, काल और पात्र के अनुरूप दान देने का उल्लेख है। इसमें दान के स्वरूप है–अर्थ, विद्या और अभय।**"[1]

संस्कृत ग्रंथ 'महाभारत' में धृतराष्ट्र को अंधेपन के बावजूद राजा बनाया जाता है। इसी प्रकार उषा भट्ट ने 'द फिजिकली हैण्डीकैप्ट इन इंडिया : ए ग्रोइंग नेशनल प्राब्लम' नामक पुस्तक में बौधायन (Baudhayana) का उद्धरण देते हुए लिखा है कि–"**प्राचीन भारत में एक विशेष प्रकार का 'उपनयन' संस्कार होता था, जो दृष्टिहीन, बधिर, और विकलांग युवाओं के लिए किया जाता था।**"[2] बौधायन का उद्धरण देते हुए उन्होंने आगे लिखा है–"दृष्टिहीनों, बधिरों और शारीरिक रूप से विकलांग युवाओं को भोजन, कपड़ा और आश्रय दिया जाता था।"[3] डा. जी. एन. कर्ण ने भी मनु का उद्धरण देते हुए लिखा है–"**एक राजा को हमेशा उपकार कार्य करते हुए विद्वान ब्राह्मण, किसी बीमारी से पीड़ित विकलांगजन, अनाथ और जिसने कुलीन परिवार में जन्म लिया है, उन्हें दान देना चाहिए।**"[4]

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है कि विकलांगों को प्राचीन भारत में दया और सहानुभूति का पात्र ही माना जाता था, उन्हें समाज में समानता का अधिकार नहीं दिया गया। यहाँ तक कि चिकित्सा विज्ञान के प्रसिद्ध ग्रंथ 'चरक संहिता' में भी रोग का प्रमुख कारण पूर्वजन्म में किये गये पापों को माना गया है। इस अर्थ में भारतीय इतिहास में 'स्वर्ण युग' कहलाने वाला

---

1. *United Nations and the Rights of Disabled persons, G.N. Karna, A.P.H publishing Corporation, Ansari Road, New Delhi, 1999, p. 28*
2. The physically Handicapped in India : A Growing National problem, Usha Bhatt, popular Book Depot, Bombay, 1963, p.-93
3. Ibid
4. United Nations and the Rights of Disabled persons, G.N. Karna, A.P.H. Publishing Corporation, Ansari Road, New Delhi, 1999. p. 23.

हिन्दू धर्म की 'क्लासिकल' रचनाओं में विकलांगता और अपंगता की चर्चाएँ हैं। यहाँ तक कि वैदिक ग्रंथों में भी। डा. जी. एन. कर्ण ने अपनी पुस्तक यूनाइटेड नेशन्स एण्ड राइट्स ऑफ डिसेब्ल्ड परसन्स' में लिखा है कि–"**उदाहरण के लिए विष्णु का अवतारवामन (बौना) के रूप में है। 'रामायण' में कुबड़ी मंथरा दासी राम के राज्याभिषेक की चुगली (कुटनी) करती है। यद्यपि मंथरा का चित्रण एक दुष्ट पात्र के रूप में हुआ है। इसी प्रकार ऋग्वेद में भी अपाहिजों और जरूरत मंद लोगों को दान देने की चर्चा है। श्री मद्भागवत गीता में देश, काल और पात्र के अनुरूप दान देने का उल्लेख है। इसमें दान के स्वरूप है–अर्थ, विद्या और अभय।**"[1]

संस्कृत ग्रंथ 'महाभारत' में धृतराष्ट्र को अंधेपन के बावजूद राजा बनाया जाता है। इसी प्रकार उषा भट्ट ने 'द फिजिकली हैण्डीकैप्ट इन इंडिया : ए ग्रोइंग नेशनल प्राब्लम' नामक पुस्तक में बौधायन (Baudhayana) का उद्धरण देते हुए लिखा है कि–"**प्राचीन भारत में एक विशेष प्रकार का 'उपनयन' संस्कार होता था, जो दृष्टिहीन, बधिर, और विकलांग युवाओं के लिए किया जाता था।**"[2] बौधायन का उद्धरण देते हुए उन्होंने आगे लिखा है–"दृष्टिहीनों, बधिरों और शारीरिक रूप से विकलांग युवाओं को भोजन, कपड़ा और आश्रय दिया जाता था।" डा. जी. एन. कर्ण ने भी मनु का उद्धरण देते हुए लिखा है–"**एक राजा को हमेशा उपकार कार्य करते हुए विद्वान ब्राह्मण, किसी बीमारी से पीड़ित विकलांगजन, अनाथ और जिसने कुलीन परिवार में जन्म लिया है, उन्हें दान देना चाहिए।**"[3]

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है कि विकलांगों को प्राचीन भारत में दया और सहानुभूति का पात्र ही माना जाता था, उन्हें समाज में समानता का अधिकार नहीं दिया गया। यहाँ तक कि चिकित्सा विज्ञान के प्रसिद्ध ग्रंथ 'चरक संहिता' में भी रोग का प्रमुख कारण पूर्वजन्म में किये गये पापों को माना गया है। इस अर्थ में भारतीय इतिहास में 'स्वर्ण युग' कहलाने वाला

---

1. *United Nations and the Rights of Disabled persons, G.N. Karna, A.P.H publishing Carporation, Ansari Road, New Delhi, 1999, p. 28*
2. The physically Handicapped in India : A Growing National problem, Usha Bhatt, popular Book Depot, Bombay, 1963, p.-93
3. Ibid

काल, खास कर चन्द्रगुप्त मौर्य का शासन काल अत्यधिक महत्वपूर्ण है। प्रो. आर. पी. दत्त ने लिखा है कि–"**कुलीनों और मकान मालिकों ने पाटलिपुत्र शहर में एक अस्पताल का निर्माण किया था। जिसमें देश भर के सभी आश्रितों और विकलांगों को आवश्यक मदद दी जाती थी।**[1] ई. पू. तीसरी शताब्दी में प्रसिद्ध शासक अशोक ने भी विकलांगों के लिए एक संस्था की स्थापना की थी।

इस संदर्भ में, कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' भी विशद् ज्ञान प्रदान करता है। यहाँ तक कि उन्होंने विकलांगों के लिए नई पेंशन योजनाओं का भी उद्धरण दिया है। समाज में राजा को अनाथों, विधवाओं और विकलांगों का प्राकृतिक पिता (God Father) माना जाता था। कौटिलय का उद्धरण देते हुए बी. पी. वर्मा ने लिखा है कि–"**राजा अशोक सैनिक शक्ति की सहायता से शासन नहीं करता था, बल्कि प्यार से प्रजा पर शासन करता था।**"[2]

जहाँ तक मध्य युग, खासकर मुगलकाल का प्रश्न है, तो यह समृद्धि का काल माना जाता है। इस दौर में स्थापत्य, चित्रकला, मूर्तिकला तथा संगीत के क्षेत्र में अभूतपूर्व विकास हुआ। यद्यपि कुछ मुस्लिम शासकों ने हिन्दुओं पर अत्याचार भी किये, जिससे अशांति फैली। मुआयना करने पर पता चलता है कि उस समय विकलांग तथा निस्सहाय जनों के लिए अलग से कोई संस्था या योजना नहीं थी, जिस प्रकार की संस्था प्राचीन शासक चंद्र गुप्त मौर्य और अशोक के समय में होने का प्रमाण मिलता है। यद्यपि 'दीवान-ए-ख़ैरात' होता था जो खासकर गरीब लोगों को शादी-ब्याह और हज यात्रा में मदद करती थी। मुगल शासकों में अकबर और शाहजहाँ ने असहाय और विकलांग जनों को सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने में मदद की थी, लेकिन ये सारे कार्य किसी खास अवसर पर कभी-कभार ही किये जाते थे। इसके लिए कोई प्रक्रियाबद्ध योजना नहीं थी। डा. एस. एन. गजेन्द्र गडकर ने इवान्स की पुस्तक 'इनसौनिस्टी इन इंडिया' (1907 ई.) का उद्धरण देते हुए–एक मुस्लिम पीर शाहद्दोला का उल्लेख किया है

---

1. *R.C. Dutta, A History of Civilization in Ancient India, Vistar Publication, New Delhi, 1972, p. - 59 से उद्धृत United Nations and the Rights of Disabled persons, G.N. Karna, A.P.H publishing Carporation, Ansari Road, New Delhi, 1999, p. 28*
2. *V.P. Verma, Studies in Hindu Political thought and its Metaphysical Foundation, Motilal Banarsidas, New Delhi, 2nd Edition-1959, p.-192*

जो 1600 ई. के आसपास सियालकोट में रहता था। उन्होंने लिखा है—"वह **(पीर) मानसिक रूप से विकलांग व्यक्तियों को अपने घर में रखता था, जिसके कारण लोग मानसिक रोग से ग्रस्त विकलांगों को शाहद्दौला का चूहा (Shah Daulas mice)** कहने लगे।"[1]

बावजूद इसके कुछ विदेशी इतिहासकारों ने भारत में विकलांग बच्चों को जान से मारने का प्रमाण दिया है। हेनरी एच. केसलर ने लिखा है—"**भारत में विकलांग बच्चों को गंगा में प्रवाहित कर दिया जाता था।**"[2]

हेनरी केसलर के उपर्युक्त कथन को यदि पूर्णतः सत्य नहीं भी माना जाय, लेकिन आंशिक सच्चाई के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। युद्ध, साम्राज्य स्थापना की होड़, धार्मिक पूर्वग्रह की स्थिति में जब सामान्य व्यक्ति के मानवाधिकार हनन का साक्ष्य मिलता है, बलात धर्म स्वीकार करने के लिए उसे बाध्य किया जा सकता है, तो एक अदना से विकलांग के साथ कैसा बर्ताव होता होगा, इसकी कल्पना की जा सकती है।

पश्चिमी क्लासिकल ग्रंथों में विकलांगता—पश्चिमी समाज के परिप्रेक्ष्य में

प्राचीन और मध्यकाल के बाद आधुनिक काल में विकलांगों की स्थिति पर चर्चा हम आधुनिक परिप्रेक्ष्य में करना चाहेंगे। इसके पहले प्राचीन तथा मध्यकालीन भारतीय समाज के समकालीन अन्य देशों की चर्चा करना चाहेंगे। क्या भारत की अपेक्षा अन्य देशों में विकलांगों की स्थिति बेहतर थी? अन्य देशों के समाज तथा शासकों ने विकलांगों के साथ कैसा तथा शासकों ने विकलांगों के साथ कैसा व्यवहार किया, इसकी संक्षिप्त चर्चा भी हम यहाँ करना चाहेंगे। यूरोप, अफ्रीका तथा शेष विश्व में भी विकलांगों को लेकर अलग-अलग धारणाएँ हैं। इन देशों में भी विकलांगों को दीन-हीन और सहानुभूति का पात्र माना गया है। कई-कई देशों में तो विकलांग बच्चे को जन्म लेते ही मार देने के प्रमाण मिले हैं। Weiss द्वारा मानव संसाधन क्षेत्र को लेकर पूरे विश्व के 47 देशों में किए गए सर्वेक्षण में पाया गया है कि—"**एशिया, अफ्रीका ओशनिया और अमेरिका के 13 देशों में भी विकलांग शिशुओं की हत्या के**

---

1. *S.N. Gajendragadkar, Disabled in India, Edited Somiya Publications, Bombay, First Edition, 1983, p.-7*
2. *United Nations and the Rights of Disabled persons, G.N. Karna, A.P.H publishing Carporation, Ansari Road, New Delhi, 1999, p. 28*

प्रमाण मिले हैं। इनमें से पाँच देशों में उस देश की सरकार द्वारा निर्धारित कौंसिल बैठक का कुछ सप्ताहों तक इंतजार किया गया कि नये जन्म लिए विकलांग बच्चों की हत्या की जाय या नहीं। बाद में कौंसिल की बैठक ने इस पर सहमति दे दी।"[1]

यहाँ यह स्पष्ट नहीं हो पाया है कि उपर्युक्त देशों में विकलांग बच्चों की किसी खास वर्ष के बाद हत्या की जाने लगी थी या फिर उनकी हत्या हमेशा ही की जाती थी। कौंसिल की बैठक आहूत करने का एक अर्थ यह भी हो सकता है कि किसी खास वर्ष से यह नियम बनाया गया होगा कि अब से जो भी विकलांग बच्चा जन्म लेता है, उसकी हत्या करना अपराध नहीं है। इसके लिए न्यायालय या किसी भी सरकारी संगठन की अनुमति लेना अनिवार्य नहीं है। वैसे देखा जाय तो ये हत्याएँ नियम बनाने के पहले भी की जाती रही होगी; लेकिन कालान्तर में सरकार के समर्थन से इसे और भी बल मिला होगा।

स्पार्टा में विकलांग बच्चों को ऊँची चट्टान से नीचे फेंक दिया जाता था ताकि वे मर जाएँ। ऐथेंस के 'स्वर्ण युग' काल में भी विकलांग बच्चों को मिट्टी के बर्तन में बंद कर मंदिर के पास छोड़ देने का साक्ष्य मिला है। डेनमार्क में तो और भी बर्बरता से विकलांग बच्चों की हत्या के साक्ष्य मिले हैं। यहाँ गर्म कड़ाहे में उन्हें मरने छोड़ दिया जाता था।

इसी प्रकार बिनोद कुमार मिश्र ने 'विकलांगों के अधिकार' नामक पुस्तक में विकलांगों की हत्या के बारे में लिखा है–**"स्पार्टा और ऐथेंस में दृष्टिहीनों की हत्या के लिए रास्ते में गढ्डा खोद दिया जाता था ताकि विकलांग उसमें गिरकर मर जायें।"**[2]

शासक और सरकारी तंत्रों की बात तो अलग है। साम्राज्य स्थापना से लेकर सत्ता को बनाये रखने के लिए इस वर्ग को कई क्रूर और अमानवीय कार्य भी करने पड़ते हैं। लेकिन यूरोपीय सभ्यता और संस्कृति में बौद्धिकता और विद्वता का परिचायक माने जाने वाले प्लेटो और अरस्तू से ऐसी उम्मीद नहीं की जा सकती है। दुर्भाग्य से उनकी रचनाओं में भी विकलांगों को दोयम दर्जा ही दिया गया है। प्लेटो और अरस्तू ने समाज के अयोग्य और अपात्र व्यक्तियों

---

1. *United Nations and the Rights of Disabled persons, G.N. Karna, A.P.H publishing Carporation, Ansari Road, New Delhi, 1999, p. 28*

2. *डॉ. मिश्र, विकलांगों के अधिकार, कल्याणी शिक्षा परिषद, दरियागंज, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2005, पृ. सं.-94*

से समाज की मुक्ति को उचित ठहराया है। प्लेटो ने 'द रिपब्लिक' में लिखा है—**"विकलांग बच्चों और उनके माता-पिता को किसी दूर दराज के गुप्त या रहस्यमय स्थान पर रखा जाना चाहिए।"**[1] उन्होंने आगे लिखा है कि—**"जो व्यक्ति सामान्य क्रिया-कलाप भी नहीं कर पाता वह स्वयं के लिए तो बेकार है ही राज्य (शासन) के लिए भी अनुपयोगी है।"**[2] ठीक इसी प्रकार का विचार अरस्तू का भी है। विल ड्यूरेन्ट ने 'द लाइफ ऑफ ग्रेस' में लिखा है—**"अरस्तू किसी भी अपूर्ण (imperfect) और अपाहिज (maimed) के लालन-पालन के पक्ष में नहीं था।"**[3]

प्लेटो ने तो यहाँ तक लिखा है कि—**"जब उच्छृंखलता और महामारी शहर में फैल जाय तब न्यायालय और औषधालय को अपने दरवाजे बंद कर लेने चाहिए। चाहे कितना भी निकट संबंधी क्यों न हो, न्याय और औषधि देना बंद कर दिया जाना चाहिए।"**[4]

प्लेटो और अरस्तू के कालक्रम पर दृष्टिपात करने पर पता चलता है कि यह परस्पर युद्ध और साम्राज्य स्थापना की ललक का काल था। साम्राज्य स्थापना के लिए युद्ध जरूरी था और युद्ध के लिए आवश्यकता थी बलवान योद्धा की। स्पार्टा और एथेंस में युद्ध विद्या पर जोर दिया जाता था। इस प्रकार विकलांग जनों को इस काल में निःसहाय और समाज पर बोझ के रूप में लिया जाता था। इस काल का प्रमुख प्रश्न था—विकलांगों को जिंदा रखा जाय या नहीं? जबकि आज के आधुनिक युग का सवाल है—विकलांगों को किस प्रकार समानता का अधिकार प्रदान कर जिन्दगी जीने लायक बनाया जाय?

---

1. *G.N. Karna, United Nations and the Rights of Disabled persons, A.P.H publishing Carporation, Ansari Road, New Delhi, 1999, p. 28*
2. *Plato - The Republic, Translated by A.D. Lindsay, T.M. Dent & Sons Ltd. London Press, 1992, p. 89 से उद्धृत G.N. Karnas - United Nations and ...p. 20*
3. *G.N. Karna's, Will Durant, The Life of Greece, Simon and Schouster Press, New York, 1966, p. 537,*
4. *Plato - The Republic, Translated by A.D. Lindsay, T.M. Dent & Sons Ltd. London Press, 1992, p. 89 से उद्धृत G.N. Karnas - United Nations and ...p. 20*

उस समय के समाज और आज के आधुनिक समाज में विकलांगों की समस्या को लेकर मात्र इतना ही परिवर्तन हुआ है। प्राचीन और मध्यकाल में विकलांगों को जीने का भी अधिकार नहीं था वहीं आधुनिक काल में उन्हें जीने का अधिकार मिला। प्राचीन समाज को लेकर एक सवाल यह भी उठाया जाना लाजिमी होगा कि क्या किसी प्रकार की शल्य क्रिया विकलांगता से मुक्ति पाने के लिए की जाती थी? खासकर उस स्थिति में जबकि मानसिक और शारीरिक शल्य क्रिया के कई उदाहरण मिल चुके हैं।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि चाहे वह भारतीय समाज हो या यूरोपीय समाज प्रारंभ में विकलांगों की समस्या को लेकर कोई योजनाबद्ध कार्य नहीं किया गया। धर्मार्थ संस्थाओं ने भले ही कुछ सहानुभूतिपूर्ण कार्य किये हों लेकिन उनका भी आग्रह सिर्फ भोजन, कपड़ा और आश्रय प्रदान करने तक ही सीमित था।

विकलांगों की समस्या को लेकर योजनाबद्ध कार्य यूरोप में पुनर्जागरण काल से और भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से प्रारंभ हुआ। यद्यपि स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व भी यूरोपीय मिशनरियों द्वारा भारत में विकलांगों की समस्या पर छिटपुट कार्य होता था। लेकिन योजनाबद्ध कार्य का प्रारंभ 7वीं और 8वीं दशक से हुआ।

भारतीय समाज में विकलांगता – एक संक्षिप्त परिचय

विभिन्न तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि भारतीय समाज में विकलांगों के साथ दया और सहानुभूति जैसा ही व्यवहार हुआ है। जैसा कि तथ्यपरक जानकारी मिली है कि पश्चिमी देशों में विकलांग बच्चों को जन्म के बाद मार दिया जाता था ऐसी तथ्यपरक जानकारी भारतीय समाज में बहुत कम मिलते हैं। इसका प्रमुख कारण माना जा सकता है–भारतीय समाज का धर्मभीरू होना और दूसरा भारत में इतिहास लेखन की परंपरा की शुरूआत देर से होना। जो भी हो, यूरोपीय समाज में 'उत्पादन के साधन और साधक' (Means of Productivity) पर अधिक बल दिया जाता था। जो चीजें समाज के लिए उपयोगी हैं, उसका संरक्षण और संवर्धन किया जाय और जो चीजें अनुपयोगी हैं, उनका बहिष्कार किया जाय। भारत में

औद्योगिक क्रांति का देर से होना या न के बराबर होना, जैसे कारणों से यहाँ 'Means of Productivity पर ज्यादा बल नहीं दिया गया। जिस दयनीय स्थिति में ही सही विकलांगों को जीने का अधिकार था। वैसे आज के समय में पश्चिमी देशों में भारत की अपेक्षा विकलांगों को अधिक अधिकार सुविधा और सम्मान मिल रहा है; इसका मुख्य कारण अंतर्राष्ट्रीय मानवाधिकार जैसी संस्थाओं का अस्तित्व में आना है।

दया और सहानुभूति ही सही धर्मभीरूता के कारण भारत में विकलांगों को जीने का अधिकार था। बावजूद इसके भारतीय समाज में दहेज से बचने के लिए लड़कियों को जान से मारने का प्रमाण मिले हैं। सवाल उठता है कि लड़कियों की जान हत्या की जा सकती है तो विकलांग बच्चों की क्यों नहीं? ऐसा भी हो सकता है कि लड़कियों को मारने की प्रथा किसी खास जाति में नहीं होगी। इसके पीछे कई सामाजिक और आर्थिक पहलू हो सकते हैं। लेकिन ग्रामीण क्षेत्रों में कई ऐसे परिवार हैं, जिनमें एक पिता के कई बेटियाँ हैं; फिर भी उनकी हत्या नहीं की गई। शहरी क्षेत्रों में भी ऐसे कई प्रमाण मिलते हैं। हमारे समाज में बच्चा भगवान का उपहार माना जाता है, चाहे वह लड़का, लड़की हो या फिर विकलांग। धर्मभीरूता और पाप के डर से इनकी हत्या नहीं की जाती थी। इस तरह गलत ही सही धर्मभीरूता ने कहीं-कहीं मानवता को फायदा भी पहुँचाया है।

हिन्दू 'मेथाडॉलोजी' में कर्मफल पर विशेष बल दिया जाता है। इसमें व्यक्ति पूर्व जन्म के पाप वर्तमान जीवन में तो भुगतता ही है, वर्तमान जीवन के पाप को भी परवर्ती जीवन में भुगतने के लिए अभिशप्त होना पड़ता है। धर्मग्रंथों में तो यहाँ तक लिखा है कि यदि पिता ने कोई पाप किया है, तो उसका प्रायश्चित पुत्र को करना पड़ता है।

इसी परिप्रेक्ष्य में, भारतीय 'हिन्दू मेथाडॉलोजी' में विकलांगता को भी पूर्व जन्म का फल माना जाता है। ऐसा माना जाता है कि विकलांग वही बनता है, जिसने पूर्वजन्म में पाप किया होगा। हमारे देश में प्रकृति और धार्मिक नियम कानूनों की अवहेलना के प्रतिफल में भी बीमारियों को देखा जाता है। कुछ रोगों को देवी-देवताओं के श्राप और क्रोध के प्रतिफल के रूप में माना जाता है। प्रो. अनिमा सेन इसका समर्थन करते हुए अपनी पुस्तक साइको-सोशल,

इन्टीग्रेशन ऑफ द हैन्डीकैप्ट में लिखा है–"**जादूमंतर टोना टोटका में विश्वास से बीमारियों को फैलने में मदद मिलती है।**"[1] इस बात की पुष्टि डा. जी. एन. कर्ण की पुस्तक 'यूनाइटेड नेशन्स एण्ड राइट ऑफ डिसेबल्ड परसन्स' से भी होती है। उन्होंने एक विदेशी समाजशास्त्री इवान प्रिटचारा (Ewan Pritchara) का उद्धरण देते हुए लिखा है कि–"**धर्म और जादूमंतर में विश्वास करने वाले समाज में विकलांगता को फलने-फूलने का भरपूर मौका मिलता है, क्योंकि यहाँ इसे भगवान के दण्ड के रूप में माना जाता है।**"[2]

इतना ही नहीं, भगवान का दण्ड मानकर इसलिए भी इलाज नहीं किया जाता है, क्योंकि इससे भगवान कुपित हो जायेंगे। इसका एक छोटा उदाहरण इस रूप में दिया जा सकता है। गाँव में जब कभी, यहाँ तक कि आज भी चेचक (Small pox) की बीमारी होती थी तो यह मानकर इसका इलाज नहीं किया जाता था कि इससे काली माँ कुपित हो जायेंगी। गाँव में चेचक होना 'माताजी' के आगमन के रूप में लिया जाता है। बीमार का डॉक्टरी इलाज न कराकर गाँव की महिलाएँ रोजाना माता काली की मंदिर में माता जी को खुश करने के लिए गीत गाती हैं और मंडप की लिपाई-पुताई करती हैं। ताकि माँ काली खुश हो जाएं। ऐसे अंधविश्वास के कारण बच्चों से लेकर नौजवान तक विकलांग हो जाते हैं। कई लोगों की आँखों की रोशनी चली जाती है तो कईयों के पैर और हाथ कमजोर हो जाते हैं। ये अंधविश्वास आज भी किसी न- किसी रूप में भारतीय समाज में प्रचलित हैं। हाल ही में पोलियों उन्मूलन कार्यक्रम संपूर्ण भारत में चलाया गया, लेकिन देश के कुछ हिस्सों में पूर्णतः सफलता नहीं मिली। इसका प्रस्तुत कारण है–अंधविश्वास। देश के कुछ मुसलमान समुदायों ने इसका बहिष्कार किया।

कुछ क्षेत्रों में जहाँ मुसलमानों की संख्या अधिक या कम थी, एक अंधविश्वास फैलाया

---

1. *Anima Sen, psycho-social integration of the Handicapped, a challenge of the society, Mittal Publication, Delhi, First Edition 1988, p. 89*
2. *G.N. Karna, United Nations and the Rights of Disabled persons, A.P.H publishing Carporation, Ansari Road, New Delhi, 1999, p.* 13

गया कि पोलियो ड्रॉप में नुपंसकताकारक तत्व है। फलतः कई क्षेत्रों में मुसलमान बंधुओं ने अपने बच्चों को पोलियों ड्रॉप नहीं पिलाया। सरकार और प्रशासन के लिए यह चिंता का विषय बन गया था।

इसके लिए तरकीब इज़ाद करनी पड़ी। यह तरक़ीब कहाँ तक सफल हुई कहना मुश्किल है। आज भी उन क्षेत्रों में पोलियों उन्मूलन के लिए विशेष शिविर लगाये जा रहे हैं।

भारतीय समाज निम्न प्रकार की विकलांगता चिन्हित की गयी हैं–

1. अस्थि विकलांगता
2. दृष्टिहीन विकलांगता
3. मूक विकलांगता
4. बधिर विकलांगता
5. मानसिक विकलांगता

भारत में मुख्यतः इन्हीं पाँच रूपों में विकलांगता पायी जाती है। यद्यपि 'सीजोफ्रेनिया' तथा 'मायोपिया' रोग से ग्रसित व्यक्ति को भी विकलांगता की श्रेणी में माना जाता है। विकलांगता की क्या परिभाषा होनी चाहिए, इस पर सरकार और स्वयं सेवी संस्थाओं के मतों में भिन्नता है। इसी का फायदा उठाकर कुछ लोगों ने सरकार के विभिन्न मंत्रालयों, विश्व-विद्यालयों और अन्य जगहों पर नौकरी प्राप्त कर लिया है। इससे एक सच्चा विकलांग इन नौकरियों से वंचित रह जाता है। संघर्ष और परिश्रम के बाद भी उन्हें उपयुक्त नौकरी नहीं मिल पाती या फिर देर से मिलती है। वैसे सरकारी मान्यता के अनुसार 40% से अधिक शारीरिक या मानसिक रूप से कमजोर व्यक्ति को विकलांगता की श्रेणी में रखा जाता है। 40% और 39% विकलांगता की सीमा का निर्धारण मान्यता प्राप्त सरकारी डाक्टर का बोर्ड करती है। कई राज्यों में रिश्वत देकर 40% से कम विकलांग व्यक्तियों ने भी विकलांगता प्रमाणपत्र बनवा लिया है। उपर्युक्त उद्धरण देने का तात्पर्य मात्र इतना है कि विकलांगता का मात्रात्मक आधार पर परिभाषित करना मुश्किल है।

विकलांगता की समस्या पर सरकार की भूमिका और स्वयं विकलांग जनों के शैक्षणिक

और सामाजिक संघर्ष पर विचार करने के पहले हम भारतीय संविधान का मुआयना करना चाहेंगे। क्या भारतीय संविधान के निर्माताओं ने संविधान लिखते समय विकलांगो को 'नोटिस' किया था। पूरे संविधान का मुआयना करने पर पता चलता है कि इसमें 'विकलांग' शब्द का एक बार भी प्रयोग नहीं हुआ है। क्या इसे विकलांगों के प्रति संविधान निर्माताओं की अवहेलना नहीं मानी जानी चाहिए? उन्होंने भारतीय समाज के अनुसूचित जातियों, जनजातियों तथा पिछड़े वर्गों का तो ध्यान रखा लेकिन विकलांग जनों की न तो चर्चा की गई और न ही उनके लिए किसी विशेष आरक्षण की व्यवस्था की गई। यदि संविधान निर्माता समाज के इस वंचित, शोषित, उत्पीड़ित जनसमुदाय का नोटिस 1950 ई. में ही ले लेते तो आज विकलांगों की स्थिति इतनी दयनीय नहीं होती। संविधान निर्माताओं ने समाज की अनुसूचित जातियों, जनजातियों का विशेष ध्यान शायद इसलिए भी रखा हो उस समय अनेक महापुरुषों जिनमें डा. भीमराव अंबेडकर (दलित समुदाय से) आदि शामिल थे। उन्होंने दलितों के लिए लड़कर विशेष आरक्षण का प्रावधान बनवाया था। साथ ही उस समय की कुछ संस्थाएं इस दिशा में अभियान भी चला रही थीं। समाज के सबसे कमजोर (हाशिए का समाज) और पीड़ित विकलांग वर्ग जिसकी न कोई जाति होती है और न कोई धर्म और संप्रदाय। सभी जाति, धर्म और संप्रदाय के विकलांग जनों की एक ही पीड़ा होती है। उनकी समस्याएं समान होती हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि संविधान निर्मात्री समिति में एक भी विकलांग सदस्य नहीं था। इसी कारण विकलांगता की समस्याओं का नोटिस नहीं दिया गया। ऐसा इसलिए भी तार्किक माना जा सकता है कि जब अमेरिका में व्हील चेयर पर चलने वाले राष्ट्रपति फ्रैंकलीन डिलोना रूजवेल्ट राष्ट्रपति बने तो उन्होंने स्पष्ट घोषणा की थी कि हेलन केलर जब भी जैसा भी प्रस्ताव विकलांगों के निमित्त लाएगी मैं उसे कानून में तब्दील करवाने में कतई विलंब नहीं करूँगा।

उपर्युक्त उद्धरण देने का मेरा इतना ही आग्रह है कि अमेरिका जैसे प्रगतिशील समाज में भी विकलांगों की समस्या को एक विकलांग राष्ट्रपति ने ही समझा। भारत में भी भारतीय संघ लोक सेवा आयोग, विकलांगों के आरक्षण की मांग एक गैर सरकारी संगठन ने उठायी। इसके निदेशक जावेद आबिदी हैं, जो स्वयं विकलांग हैं। गाँव में एक प्रचलित कहावत है—'जिसके

पैर न फटे बेबाई, वो क्या जाने पीर पराई।' यह कहावत इस संदर्भ में कितनी सटीक और मारक प्रतीत होती है। चाहे वह पश्चिमी समाज हो या फिर भारतीय समाज विकलांगों को अपना संघर्ष स्वयं करना पड़ा है। तभी सरकार तथा प्रशासन ने इस ओर ध्यान दिया है।

डा. विनोद कुमार मिश्र ने अपनी पुस्तक 'विकलांगों के अधिकार' में इस समस्या को लेकर संविधान निर्माताओं को 'क्लीन चिट' देने का प्रयास किया है। उनका यह अनुमान पूर्णतः सही नहीं माना जा सकता। उन्होंने लिखा है कि–**"शायद खुद संविधान निर्माताओं को विकलांगता संबंधी पर्याप्त जानकारी नहीं थी और उनके लिए क्या किया जा सकता है, यह समझ भी नहीं थी।"**[1]

सवाल उठाया जा सकता है कि अनुसूचित जातियाँ, जनजातियों के लिए यह समझ कैसे विकसित हो गई थी? डा. मिश्र के इस कथन को अंशतः सत्य माना जा सकता है; जिसमें उन्होंने कहा है कि–**"उस समय विकलांगो के पक्ष में न तो कोई महापुरुष (डॉ. अंबेडकर जैसे) थे और न ही कोई संस्था।"**[2]

जहाँ तक विकलांग जनों को संविधान की मुख्यधारा में स्थान न देने की बात है, तो इसका महत्वपूर्ण कारण विकलांगों का ठोस 'वोट बैंक' का न होना भी है। आज की वर्तमान राजनीति में वोट बैंक की राजनीति' संविधान में अनावश्यक बदलाव भी करा सकती है। अमूमन यह स्थिति सभी पार्टियों की है। 'मुस्लिम वोट बैंक' को अपने पक्ष में करने के लिए कांग्रेस पार्टी ने 'शाहबानो केस' में मुस्लिमों का तुष्टीकरण किया वहीं भारतीय जनता पार्टी हिन्दू जनता की तुष्टिकरण के लिए 'हिन्दू नेशनलइज्म' का उपयोग करती है। इस स्थिति में विकलांगों का कोई ठोस वोट बैंक नहीं है, जिसके कारण भारत की राजनीतिक पार्टियां इनकी ओर ध्यान नहीं देती। उन्हें इनके रहमो-करम पर निर्भर रहना पड़ता है। 'वोट बैंक' की इस राजनीति ने 'अल्प संख्यक की अवधाणा' अधूरा 13% जैसी विशाल जनसंख्या के बावजूद मुस्लिमों को अल्पसंख्यक माना जाता है, वहीं 10% जैसी छोटी औसत जनसंख्या रहने पर विकलांगों को अल्प संख्यक

---

1. डॉ. मिश्र, विकलांगों के अधिकार, कल्याणी शिक्षा परिषद, दरियागंज, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2005, पृ. सं.-90

2. वही, पृ. सं.-90

नहीं माना जाता है। वैसे अल्पसंख्यक का दर्जा मिल जाने से विकलांगों की समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता। इसके लिए विकलांगों को स्वयं संघर्ष करना पड़ेगा।

हालाँकि भारतीय संविधान में विकलांगता की चर्चा नहीं की गई पर यह अवश्य कहा गया है कि–**"कोई भी व्यक्ति जाति, धर्म, लिंग, मूल, जन्मस्थान आदि के कारण भेदभाव से पीड़ित नहीं होगा। वह सभी सार्वजनिक स्थानों, दुकानों, कुंओं, तालाबों आदि का प्रयोग समान स्तर पर कर सकेगा।"**[1]

संविधान की उपर्युक्त व्यवस्था में विकलांगता की चर्चा नहीं की गई है; लेकिन अधिकारों तथा प्रतिष्ठा की समानता के आधार पर समानता की बात की गई है; जो समाज के सभी व्यक्तियों पर लागू होती है, जिसमें विकलांग जन भी हैं। संविधान में कुछ कमजोर वर्गों के लिए विशेष वैधानिक प्रावधान किए गये हैं। इनमें महिलाओं, बच्चों और सामाजिक और शैक्षणिक रूप से पिछड़े वर्गों को शामिल किया गया है। मूल संविधान में वृद्धों, विकलांगों आदि के लिए अलग से प्रावधान नहीं किया गया है।

भारत में विकलांग जन और सरकार की भूमिका–

भारत सरकार ने विकलांग जनों की समस्याओं का योजनाबद्ध तरीके से हल करने के लिए 1995 में 'विकलांगता एक्ट' पारित किया। इसके पहले भी भारत में विकलांग जनों के लिए कानून बनाया गया था। प्लानिंग कमीशन की एक रिपोर्ट के अनुसार–**"1944 ई. में सेन्ट्रल एडवाइजरी बोर्ड ऑफ एजूकेशन ने युद्धोपरांत देश का एक वृहत् शैक्षणिक विकास प्रस्तुत किया, जिसे सार्जेण्ट रिपोर्ट के नाम से भी जाना जाता है। इस रिपोर्ट में विकलांगों के लिए शैक्षिक विकास का प्रावधान था।"**[2]

उपर्युक्त उद्धरण से पता चलता है कि स्वतंत्रता पूर्व भी विकलांगों के हितार्थ कार्य किये गये लेकिन वे अधिक कारगर नहीं हो सके, कितने विकलांगों को शिक्षा और नौकरी मिली, इसका कोई तथ्यपरक जानकारी नहीं मिलती। डा. एस. एन. गजेन्द्रगड़कर के निम्न कथन से

---

1. *डॉ. विनोद मिश्र, विकलांगों के अधिकार, कल्याणी शिक्षा परिषद, दरियागंज, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2005, पृ. सं.-89*
2. *A Handbook Schemes for Children with disabilites : Role of the Panchayati Raj Institutions Planning Commission of India, New Delhi, p. 53*

इस बात की पुष्टि होती है। उन्होंने 'डिसेब्लड इन इंडिया' नामक पुस्तक में लिखा है कि –**"कुछ ही बिखरी संस्थाएँ स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व स्थापित हो पायी थी। सरकारी स्तर पर सिर्फ थोड़ी ही कुशलता दिखलाई गई थी। कोई भी खास नीति या संगठन सरकारी तौर पर नहीं था।"**[1]

भारत में विकलांगों की समस्या पर ध्यान तब से अधिक दिया जाने लगा जब 1995 में भारतीय संसद ने 'विकलांगता कानून' पारित किया। इसका मुख्य उद्देश्य है–समान अवसर, अधिकारों की रक्षा और पूर्ण सहभागिता (Equal Oppartunities, Protections of Rights and Full participation) एक्ट का 26वाँ अधिनियम कहता है कि–**"विकलांगों को 18 साल तक की पढ़ाई मुफ्त दी जानी चाहिए। समाज की मुख्यधारा से जोड़ने के लिए इनकी शिक्षा सामान्य स्कूलों में दी जानी चाहिए। विशेष स्कूलों का प्रावधान सरकारी और निजी क्षेत्रों में व्यावसायिक शिक्षा के लिए किया जाना चाहिए।"**[2]

विकलांगता अधिनियम का 30वां भाग निम्न व्यवस्थाएं देता है–

1. यातायात की सुविधा ताकि विकलांग बच्चे स्कूल जा सकें
2. स्कूलों कॉलेजों और सार्वजनिक स्थलों से आवासीय अवरोधों को हटाया जाना चाहिए।
3. किताब, ड्रेस और दूसरी आवश्यक सामग्रियों की पूर्ति की जानी चाहिए।
4. विकलांगों के लिए वजीफ़ा की व्यवस्था का प्रावधान

विकलांगता कानून का गंभीरता से अध्ययन किया जाय तो पता चलता है कि इसमें विकलांगों की मूलभूत समस्याओं को 'नोटिस' नहीं लिया गया है। कुछ समस्याओं पर पहल की गयी है तो वह नाकाफी है। ये सारे सरकारी प्रावधान सिर्फ कागजी फरमान बन कर रह गये हैं। शहरी क्षेत्रों में इसका पालन कुछ हद तक किया भी गया है, लेकिन ग्रामीण क्षेत्रों में ऐसा कम ही प्रतीत होता है कि विकलांगों के लिए अलग से किताब, ड्रेस, स्कूल जाने के लिए

---

1. *Disabled in India, Edited by S.N. Gajendragadkar Somaiy Publication, Bombay, First Edition, 1983, p. 99*
2. *Status of Disability in India 2000, Rehabilitation Council of India, Editar in Chif C.h. Kunder, Published 2000, Printed and bound in India by Gopsons paper Ltd. Noida, New Delhi-p. 263*

बस की सुविधा आदि है। जहाँ तक वजीफ़ा की बात है तो भारत के सामाजिक न्याय एवं अधिकारिता मंत्रालय के पास सामाजिक न्याय एवं अधिकारिता मंत्रालय के पास एक हजार रुपय से अधिक का कोई वजीफ़ा नहीं है। वही SC/ST वर्ग के छात्रों को अधिक वजीफ़ा दिया जाता है। यह एक हजार रुपये का वजीफा बी. ए. और एम. ए. करने वाले विकलांग विद्यार्थियो को दिया जाता है, जिसकी संख्या भी सीमित होती है।

सरकार की सोच अभी भी अप्रगतिशील है। इस महंगाई और गलाकाट प्रतियोगिता वाले समाज में एक हजार रुपये का वज़ीफा ऊंट के मुंह में जीरे के समान है। सरकार तथा प्रशासन की आम धारणा बन गई है कि विकलांग सिर्फ 'ग्रुप 'C' 'D' की नौकरी के लिए ही योग्य हैं। इससे अधिक विकलांगों को न तो अपेक्षा करनी चाहिए और न सरकार को इस पर ध्यान ही देना चाहिए। सरकार के पास आज की तारीख में ऐसी कोई छात्रवृत्ति नहीं है जो विकलांगों को विदेश में अध्ययन के लिए अवसर प्रदान कर सके। बहुत बड़ा आंदोलन करने के बाद विकलांगों को सन् 2004 से 'भारतीय संघ लोक सेवा परीक्षा' में आरक्षण दिया गया है। इसमें भी विकलांग जनों के साथ भेदभाव किया जा रहा है। पहले तो कुछ क्षेत्रों को ही योग्यता श्रेणी में रखा गया, बाद में वर्तमान प्रधान मंत्री श्री मनमोहन सिंह ने सभी क्षेत्रों पर विचार करने का आश्वासन दिया। यह आश्वासन कब नियम का रूप लेगा, कहना मुश्किल है। विकलांगों की प्रकृति को लेकर भी सरकार भेदभाव बरत रही है। इससे विकलांगों की एकता पर बुरा असर पड़ेगा।

भारतीय संसद में, जहाँ संविधान संशोधन के लिए नियम पारित किये जाते हैं। विकलांगता पर हो रही बहसों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया। इसका प्रमाण है 6 दिसम्बर 2004 को प्रश्न संख्या 67 पर राज्य सभा में हुई बहस का। तत्कालीन राज्य सभा सदस्य श्री शाहिद सिद्दिकी ने उपसभापित से विकलांगों की समस्या पर ध्यान आकृष्ट करवाना चाहा तो इसमें व्यवधान डाला गया। श्री सिद्दिकी ने राज्यसभा में सदस्यों का ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा—"सर, यह बहुत ही महत्वपूर्ण विषय है, जो डिसेबल बच्चे हैं, उनके लिए शिक्षा का सवाल है और मैं समझता हूँ कि हमें इसका महत्व समझना चाहिए क्योंकि आज हिन्दुस्तान में

चार करोड़ बच्चे है। जो 4 साल से 16 साल की उम्र के हैं, वे मैंटली और फिजिकली चैलैन्ज्ड हैं। व्यवधान....।

उपर्युक्त उद्धरण देने से हमारा तात्पर्य सिर्फ इतना है कि राज्य सभा के सदस्यों में भी विकलांगों की समस्याओं पर संजीदगी नहीं है। बहस में व्यवधान डालना इस मानसिकता को प्रतिबिंबित करती है। इस प्रकार यह मांग लाजिमी हो जाता है कि विकलांगों को राज्यसभा में 3% सीटें आरक्षित की जाय। जब साहित्यकारों, संगीत से जुड़े विद्वान को राष्ट्रपति सदस्य मनोनीत कर सकते हैं तो विकलांग कार्यकर्ता को क्यों नहीं? भारत की संसद इस पर आज भी मौन है।

प्रश्न उठता है कि विकलांगता कैसे जन्म लेती है। वे कौन से कारक हैं जिसके कारण भारतीय समाज में विकलांगों की संख्या निरंतर बढ़ती चली जा रही है? धर्मभीरूता और अंधविश्वास तो प्रमुख कारण है ही। इससे भी बड़ा कारण है—स्वास्थ्य के प्रति लापरवाही। इस लापरवाही का प्रमुख कारण है—गरीबी। भारत का 60-70 % जनसंख्या गरीबी रेखा के नीचे रह रही है। ग्रामीण क्षेत्रों में गरीबी और उचित मार्गदर्शन के अभाव में विकलांगता का इलाज नहीं हो पाता है।

विकासशील देश जैसे भारत में अयोग्य धाय प्रसव के समय होती है। गरीबी के कारण गर्भवती महिला को प्रसव के लिए अस्पताल नहीं ले जाया जाता है। गाँव की यह अनपढ़ अयोग्य 'धाय' इन्हें न तो मेडिकल साइंस की कोई जानकारी होती है और न ही प्रसव प्रक्रिया की जानकारी। बच्चे के जन्म लेते समय यह जिस प्रकार के तरीकों और साधनों का प्रयोग करती हैं, इससे बच्चा विकलांग हो जाता है। ध्यान देने की बात है कि देहात में नाभि काटने के लिए आज भी जंग लगे हँसुए का प्रयोग किया जाता है। डा. अनिमा सेन ने भी इस ओर संकेत किया है। उन्होंने लिखा है—"**देहात में खासकर आदिवासी क्षेत्रों में इस प्रकार का प्रचलन है।**"[1]

इससे टेटनस की बीमारी हो जाती है और बाद में बच्चे विकलांग हो जाता है। इन गरीब

---

1. *Anima Sen, psycho-social integration of the Handicapped, a challenge of the society, Mittal Publication, Delhi, First Edition 1988, p. 152*

गाँवों में जहाँ खाने के लिए लाले पड़े रहते हैं महंगा वेक्सीन खरीदना मुश्किल होता है। कहने के लिए सरकारी अस्पताल में ये वेक्सीन मुफ्त में मिलती है; लेकिन सरकारी अस्पताल की क्या हालत है, इसे लिखने की जरूरत नहीं।

विकलांगता पर काबू पाने के लिए तीन चीजों पर ध्यान देना जरूरी है—गर्भवती महिला को बच्चों के जन्म पूर्व, जन्म के समय और जन्म के बाद देखभाल।

इन तीनों अवस्थाओं से बच्चे को बचा लेने से विकलांगता पर बहुत हद तक नियंत्रण प्राप्त किया जा सकता है।

वंशानुगत बीमारियाँ भी विकलांगता का कारक है। इसका प्रमुख कारण है—'निकट संबंधी से विवाह' (Endogamous marriage)। यह परम्परा कुछ घुमन्तू जनजातियों, कुछ मुस्लिम समुदायों में और उड़ीसा के हिन्दू जनजाति में अधिक मिलता है।

उचित इलाज के अभाव में विकलांग बच्चे जन्म लेते हैं। डॉ. अनिमा सेन ने लिखा है—**"भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में 10 में 6 और शहरी क्षेत्रों में दस में चार विकलांग बच्चों का कोई इलाज नहीं किया गया।"**[1]

इसके अलावा दुर्घटना भी विकलांगता का प्रमुख कारण है। दुर्घटनाएँ भी दो प्रकार की होती है—औद्योगिक और सड़क दुर्घटना। गौरतलब है कि पश्चिमी देशों में सड़क दुर्घटना की अपेक्षा कल कारखानों की दुर्घटना से अधिक लोग विकलांग होते हैं। ऐसा इसलिए है कि कल कारखानों की संख्या वहाँ अधिक है। तीसरी दुनिया के देशों में, सड़क दुर्घटना के कारण अधिक लोग विकलांगता का शिकार होते हैं। इसका प्रमुख कारण यातायात संबंधी जानकारी की कमी तथा जनसंख्या की बढ़ती तादाद है। डा. अनिमा सेन ने लिखा है—**"दुर्घटना का औसत एक लाख व्यक्तियों में 53 हैं जो ग्रामीण और शहरी दोनों क्षेत्रों में बराबर है।"**[2]

---

1. *Anima Sen, psycho-social integration of the Handicapped, a challenge of the society, Mittal Publication, Delhi, First Edition 1988, p. 30*
2. *Ibid., p. 34*

विकलांगजन और शिक्षा संबंधी समस्याएँ–

विकलांगों की प्रमुख समस्या शिक्षा है। उनकी प्रारंभिक शिक्षा ही सुचारू ढंग से नहीं हो पाती है। बेकारी और बेरोजगारी के आलम में जब सकलांग व्यक्ति को नौकरी नहीं मिल रही है। तो विकलांगों को कैसे मिल पाएगी। ऐसी आम धारणा ग्रामीण क्षेत्रों में प्रचालित है। विकलांगों के साथ आवागमन की मुख्य समस्या होती है। हाई स्कूल और कॉलेज तो गाँव से कई किलोमीटर दूर होते हैं। किसी-किसी गाँव में तो प्राथमिक विद्यालय नहीं है। गाँव के प्राथमिक स्कूल शायद ही गाँव के बीच में होते हैं। ऐसा इसलिए कि गाँव के बीच का जमीन महंगा होता है। प्रायः स्कूल और कॉलेज दान दिये जमीन पर ही बनते हैं। दानकर्ता भी गाँव के बाहर बंजर या कम उपजाऊ भूमि को दान में देता है। अधिकांश स्कूल गैरमजरूआ जमीन पर बनते हैं जो दूर दराज में ही होता है। इस स्थिति में एक विकलांग स्कूल जाने से वंचित रह जाता है। सड़के कच्ची और कीचड़ युक्त होती हैं। कई जगह पगडंडियों पर दूरी तय करनी पड़ती है। कहीं-कहीं नदी के पार स्कूल होते हैं। एक विकलांग बच्चे का नदी पार स्कूल जाना मुश्किल है। कई-कई गाँवों में आज भी प्राथमिक स्कूल नहीं है, उस गाँव के बच्चों को समीपवर्ती गाँवों में पढ़ाई के लिए जाना पड़ता है। इस स्थिति में भला एक विकलांग विद्यार्थी कैसे शिक्षा प्राप्त कर सकता है?

विकलांग लड़कियों और बच्चों के साथ यह स्थिति पुरुषों की अपेक्षा अधिक भयावह हैं परिवार से लेकर समाज में उनके साथ भेदभाव अधिक होता है। उन्हें प्रायः घर के चहारदीवारी के भीतर रखा जाता है। दिल्ली जैसे देश की राजधानी, जिसकी सुरक्षा वृहत मानी जाती है, एक महिला विकलांग लड़की के साथ बलात्कार हो सकता है, तो गाँव की कल्पना की जा सकती है। परिवार के सदस्य इनकी विकलांगता से दबे तो रहते ही है, उनमें यह भी डर रहता है कि कहीं गांव के आवरा तत्वों की यह शिकार न बन जाय। इस कारण उसे घर के अंदर बंद रखना ही बेहतर समझा जाता है। यद्यपि साहित्य में सामान्य महिलाओं के बारे में बहुत लिखा गया है लेकिन विकलांग महिलाओं पर बहुत कम। तीसरी दुनिया के देशों में विकलांग महिलाओं की स्थिति सबसे दयनीय है। यह विकलांग समुदाय में सबसे अधिक शोषित, उत्पीड़ित और वंचित है। उन्हें समाज में 'दूसरे दर्जे' का स्थान मिला है, डॉ. अनिमा सेन ने

विकलांग महिलाओं के वैवाहिक जीवन के बारे में चौकाने वाला आंकड़ा प्रस्तुत किया है। उन्होंने लिखा है–"**लगभग सत्तर प्रतिशत विकलांग महिला की वैवाहिक जीवन व्यतीत करती हैं लेकिन शायद ही किसी को आँखवाला पति मिलता है। दूसरी तरफ दृष्टिहीन पुरुष की शादी होती है तो साधारणतया उन्हें गैर विकलांग पत्नी ही मिलती है।**"[1]

सत्तर प्रतिशत महिला विकलांग तो किसी प्रकार वैवाहिक जीवन का आनंद प्राप्त करती भी हैं, लेकिन उस 30% का हाल क्या होता होगा? अनिमा सेन विकलांग महिलाओं के बारे में आगे लिखा है–"**परिवार और समाज की उपेक्षा के कारण महिलाएँ मुश्किल से ही समाज की मुख्य धारा में मिल पाती हैं।**"[2]

इस प्रकार विकलांग महिला और पुरुष संघर्षपूर्ण स्थिति में ही शिक्षा प्राप्त कर पाती हैं। वैसे संविधान की धारा 29(2) में सभी को समान रूप से शिक्षा देने की प्रावधान किया गया है। संविधान की यह धारा व्यवस्था देती है कि–"**सरकार द्वारा स्थापित या प्रबंधित या सरकारी सहायता प्राप्त किसी भी शिक्षण-संस्थान में जाति, धर्म, भाषा, संप्रदाय आदि के आधार पर प्रवेश में किसी किस्म का कोई भेदभाव नहीं किया जाएगा।**"[3]

आजकल 'समेकित शिक्षा' (Integrated Education) का चलन बढ़ रहा है और विकलांग छात्रों को यथासंभव सामान्य स्कूलों में पढ़ने के लिए प्रेरित किया जा रहा है। इसके तहत राज्य सरकारों ने निर्देश जारी किए हैं कि विकलांग छात्रों को मात्र विकलांगता के आधार पर प्रवेश से वंचित न किया जाय। साथ ही अगर सामान्य स्कूल में विकलांग छात्र को विकलांगता के कारण पढ़ने या समझने में दिक्कत आ रही हो तो विशेष प्रयास करके उनकी आवश्यकता की पूर्ति की जाय। इस नीति के तहत विकलांगों के लिए विशेष विद्यालयों की भी स्थापना की

---

1. *Anima Sen, psycho-social integration of the Handicapped, a challenge of the society, Mittal Publication, Delhi, First Edition 1988, p. 98*
2. *Anima Sen, psycho-social integration of the Handicapped, a challenge of the society, Mittal Publication, Delhi, First Edition 1988, p. 98*
3. *डॉ. विनोद मिश्र, विकलांगों के अधिकार, कल्याणी शिक्षा परिषद, दरियागंज, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2005, पृ. सं.-95*

जाती है और स्थापित विद्यालयों को सहायता भी दी जाती है। साथ ही सामान्य स्कूलों में विकलांग छात्र को विकलांगता के कारण पढ़ने या समझने में दिक्कत आ रही हो तो विशेष प्रयास करके उनकी आवश्यकता की पूर्ति की जाए। इस नीति के तहत स्कूल पूर्णकालिक या अंशकालिक विशेष शिक्षक को भी नियुक्त करते हैं जो आवश्यकतानुसार नेत्रहीन या श्रवणहीन छात्र को पढ़ाई में सहायता करते हैं।

हाल में दिल्ली सरकार ने विशेष आदेश जारी किया है कि अगर किसी विकलांग छात्र को विकलांगता के आधार पर स्कूल/कॉलेज में प्रवेश नहीं मिलता है तो वह शिकायत कर सकता है। महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों के आंकड़ों पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट होता है कि देश के 119 विश्वविद्यालयों में मात्र 52 ने विकलांग संबंधी आकंडे बनाये हैं। एक सर्वेक्षण में पाया गया कि भारत के 119 विश्वविद्यालयों मं 7,13167 विद्यार्थी पढ़ते हैं जिनमें विकलांगों की संख्या 694 है। प्रतिशत निकालने पर पता चलता है कि यह 0.1% ही है। (NCPEDP सर्वेक्षण, Status of Mainstream education of Disabled Students in India A summary Report on the Research Study, Conducted by - National centre for promotion of employment for disabled people (NCPEDP) Annexure-1, p. 02)

TH-12172

इस सर्वेक्षण में 24 विश्वविद्यालयों ने साफ कहा कि हम विकलांगों को नामांकन में 3% आरक्षण के नियम का अनुपालन नहीं करते।

भारत के दस विश्वविद्यालयों में विकलांग छात्रों की क्या उपस्थिति है इसे निम्न चार्ट में दिखाया जा सकता है–

S.No.	University	Numbers of P.H. Students
1.	बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय	208
2.	अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय	202
3.	कुरूक्षेत्र विश्वविद्यालय हरियाणा	72
4.	सरदार पटेल विश्वविद्यालय महाराष्ट्र	65
5.	उस्मानिक विश्वविद्यालय आंध्र प्रदेश	60
6.	हैदराबाद विश्वविद्यालय (आंध्र प्रदेश)	56

Jawaharlal Nehru University Library

7.	जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली	54
8.	साउथ गुजरात विश्वविद्यालय	50
9.	कर्नाटक स्टेट ऑपन युनिवर्सिटी	49
10.	अन्ना विश्वविद्यालय, तमिलनाडु	48

साभार - NCPEDP सर्वेक्षण से। उपरोक्त वर्णित पत्रिका से।

उपर्युक्त चार्ट से स्पष्ट होता है कि 70 लाख विकलांग जनसंख्या वाले भारत में कुछ प्रतिशत विकलांग ही अच्छे विश्वविद्यालयों में शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। देश में कई विश्वविद्यालय हैं, जहाँ विकलांगों की संख्या नगण्य है।

यदि विकलांग महिला और विकलांग पुरुष की तुलना की जाय तो महिलाओं को शिक्षा कम मिल पायी है। NCPEDP के सर्वेक्षण में तुलनात्मक ढंग से बहुत अंतर पाया गया है। सर्वेक्षण रिपोर्ट बतलाता है कि–"**कुल शिक्षित विकलांगों में महिला की प्रतिशतता मात्र 23.7 है, जबकि पुरुष का 76.3।**"[1]

सरकार को विकलांग बच्चियों तथा महिलाओं की शिक्षा पर विशेष ध्यान देना चाहिए। भारत में विकलांगों की शिक्षा सरकारी क्षेत्रों की अपेक्षा गैर सरकारी-क्षेत्र में अधिक हो रही है। बहुत से गैर सरकारी संगठनों ने विकलांगों के लिए विशेष स्कूल की स्थापना किया है। शायद सरकार भी मानती है कि ऐसे कार्य को गैर सरकारी संगठनों के द्वारा ही किया जा सकता है; लेकिन इन गैर सरकारी संगठनों की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ नहीं होती। NCPEDP के सर्वेक्षण से भी यह स्पष्ट होता है। सर्वेक्षण में कहा गया है कि–"**NGO's विकलांगों की उच्च शिक्षा की आवश्यकता को पूरा करने में असमर्थ है। NGO's जिस शिक्षा तकनीक को अपनाता है उसमें बदलाव करने की जरूरत है। शिक्षा पद्धति, सामग्री, शिक्षकों को विशेष प्रशिक्षण देने की जरूरत है।**"[2]

---

1. *Status of mainstream Education of Disabled Studetns in India, A summary Report on the Research study, Conducted by NCPEDP, Supoorted by AMICI DI Raoul Follereaw (AIFO) p. 3*
2. *Ibid., p. 07*

विकलांगों को शिक्षा में भागीदार बनाने के लिए सरकार को अपनी शिक्षा नीति में बदलाव करने की भी आवश्यकता है। विकलांगों की प्रकृति, सामर्थ्य के अनुसार कानून बनाने की आवश्यकता है।

विकलांगों में रोजगार की स्थिति तो और भी सोचनीय है। आंकड़ों और तथ्यों से स्पष्ट होता है कि नौकरियों में विकलांगों की औसत उपस्थिति मात्र 0.4 प्रतिशत है। सरकारी क्षेत्रों में यह मात्र 0.54 प्रतिशत है, वहीं निजी क्षेत्रों में 0.28 प्रतिशत।

विकलांगों के व्यावसायिक प्रशिक्षण केन्द्र भी दयनीय स्थिति में हैं। इन प्रशिक्षण केन्द्रों में न तो योग्य प्रशिक्षक हैं और न ही उचित सामग्री का प्रबंध। कुछ महत्वपूर्ण प्रशिक्षण केन्द्रों में नाम इस प्रकार हैं :–

1. नेशनल इंस्टीट्यूट फॉर विजुअल हैण्डीकैप्ड, देहरादून (1979)
2. नेशनल इंस्टीट्यूट फॉर द ऑरथोपैडिकस हैण्डीकैप्ड. कलकत्ता (1981)
3. अली यावर जंग नेशनल इंस्टीट्यूट फॉर हियरिंग हैण्डीकैप्ड, मुंबई (1983)
4. नेशनल इंस्टीट्यूट फॉर द मेन्टली हैण्डीकेप्ड, दिल्ली, (1984)
5. नेशनल इंस्टीट्यूट फॉर रिहेबिलिलेशन ट्रेनिंग एण्ड , दिल्ली

इन प्रमुख संस्थानों में सभी विकलांगों को स्थान नहीं मिल पाता है। गौर करने पर पता चलता है कि ये सारे संस्थान शहरी क्षेत्रों में ही केन्द्रित हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में ऐसे संस्थानों की संख्या नगण्य है। डा. अनिमा सेन के निम्न कथन से भी इसकी पुष्टि होती है। उन्होंने लिखा है–**"भारत में लगभग 30 संस्थान हैं, लेकिन इनमें से अधिकांश शहरी क्षेत्रों में केन्द्रित हैं। जबकि विकलांगता की अधिक संख्या ग्रामीण क्षेत्रों में है।"**[1]

कुछ गैर सरकारी संस्थानों ने विकलांगों को शिक्षा और रोजगार प्रदान करने के क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका निभाया है। इन गैर सरकारी संस्थानों में जहाँ एक ओर सरकार की कार्यशैली पर सवाल खड़ा किया है वहीं दूसरी ओर विकलांगों के शिक्षा तथा रोगजार प्रदान करने के लिए तरीके भी ढूँढ़े हैं। संतोष कुमार पाणिग्रही ने भी इसका समर्थन किया है। उन्होंने Role of the

---

1. *Anima Sen, psycho-social integration of the Handicapped, a challenge of the society, Mittal Publication, Delhi, First Edition 1988, p. 48*

NGO's in the Empowerment of Disabled नामक पुस्तक में लिखा है कि–"**गैर सरकारी संस्थाएँ प्रजातंत्र की प्रहरी (Watchdog) हैं। यह नागरिकों को कार्य करने के लिए मंच प्रदान करती है।**"[1]

बावजूद इसके कुछ NGO's ने सरकारी धन को विकलांग कार्यों के नाम पर लूटने का काम किया है। उनके सारे कार्यक्रम कागजों तथा फाइलों तक सिमट कर रह जाते हैं। सरकार को ईमानदारी से काम करने वाले NGO's को ही सहायता प्रदान करनी चाहिए।

सवाल उठता है कि विकलांगों को स्वाबलंबी कैसे बनाया जाय? स्वावलंबी बनाने में परिवार और समाज की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। विकलांगों को परिवार और समाज से शारीरिक मदद की अपेक्षा भावनात्मक मदद की जरूरत अधिक पड़ती है। अनिमा सेन ने ठीक ही लिखा है–"**विकलांग विद्यार्थी शारीरिक असुरक्षा की अपेक्षा भावनात्मक असुरक्षा अधिक महसूस करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को कभी-न-कभी भावनात्मक असुरक्षा महसूस होती है, लेकिन विकलांगों के साथ यह अधिक होता है।**"[2]

एक विकलांग विद्यार्थी को कभी यह महसूस नहीं होने देना चाहिए कि समाज और परिवार उन्हें दूसरे ढंग से देखता है। उन्हें अयोग्य और असहाय समझता है। ऐसा होने पर वह स्वयं को दोषी मानने लगता है। वह स्वयं को दूसरे की अपेक्षा क्षतिग्रस्त और अपूर्ण भी मानने लगता है। विकलांगों की प्रगति परिवार और समाज द्वारा किये गये व्यवहार पर निर्भर करता है। समाज उससे मानवीय और सम्मानजनक व्यवहार करता है तो वह स्वयं को विकलांग मानना भी स्वीकार नहीं करता। गलत तथा अमानवीय व्यवहार के कारण कभी-कभी सकलांग भी विकलांग (मानसिक विकलांग) बन जाते हैं। आखिर क्या कारण है कि बड़े तथा अमीर परिवार में पलने वाला विकलांग स्वयं को विकलांग नहीं मानता, जबकि गरीब परिवार से पलने वाला विकलांग भीख मांगने के लिए अभिशप्त होता है। समाज तथा परिवार में अपेक्षा की जानी

---

1. *Santosh Kumar Panigarahi, Radha Publication, New Delhi, First Edition 2004, p- 108*
2. *Anima Sen, psycho-social integration of the Handicapped, a challenge of the society, Mittal Publication, Delhi, First Edition 1988, p. 52*

चाहिए कि वह विकलांग के प्रति साकारात्मक रूख अपनाये। लेकिन ऐसा नहीं हो पाता। जनसामान्य की सोच बेचारगी भरी ही होती है। वह इस वर्ग को 'अनुत्पादक साधन' (Unproductive means) मानता है। इससे विकलांग समाज के लिए बोझ बन जाता है। समाज यह नहीं मानता कि विकलांग भी हमारे जैसा आम आदमी है। उनकी भी मूलभूत आवश्यकताएँ होती हैं। खाना, कपड़ा, मकान, प्यार के साथ-साथ उन्हें अवसरों की समानता, व्यक्तिगत विकास के समान अवसर, सृजनात्मकता तथा सामाजिक उत्तरदायित्व की भी जरूरत पड़ती है। मानव जाति की यह मानसिकता है कि वह न अपने से भिन्न होना चाहता है और न ही देखना। उनके मन में तरह-तरह के सवाल उठते रहते हैं। जैसे–विकलांग कैसे अपना दिन-प्रतिदिन का कार्य संपादित करता होगा? वह कैसे पैखाना, पेशाब करता होगा? उसकी शादी कैसे होगी? कोई लड़की उसके साथ कैसे रहेगी इत्यादि। समाज इन सारे सवालों पर सकारात्मक ढंग से न सोचकर नकारात्मक ढंग से ही सोचता है। जरूरत है समाज को अपनी मानसिकता बदलने की। उन्हें अपने सौन्दर्य के प्रतिमान को बदलना होगा। समाज जितना साफ-सुथरा रहता है विकलांग उससे कम साफ-सुथरा नहीं रहता। कहीं-कहीं ज्यादा ही होता है।

विकलांगों के आर्थिक पक्ष पर अलग से बात करने की जरूरत है। जब तक विकलांगों को आर्थिक रूप से सक्षम नहीं बनाया जाएगा, तबतक विकलांगों के प्रति समाज का व्यवहार बेचारगी भरा ही रहेगा। इसके लिए सरकार को ईमानदारी से योग्य और प्रतिभावान छात्र को नौकरी देनी चाहिए। जिसने उच्च शिक्षा नहीं प्राप्त किया है उन्हें व्यावसायिक शिक्षा दिया जाना चाहिए। जरूरी है विकलांगों को गरीबी और जहालत की जिंदगी से निकालने की। हेलर केलर ने बोस्टन में *'Massachsetts Association for Promoting the Interests of the Blind'* संस्था को संबोधित करते हुए कहा था कि–**"विकलांगता का प्रमुख कारण गरीबी और असंवेदनशील तथा व्यवसायिक समाज का क्रूर व्यवहार है।"**[1]

---

1. *Disability, Handicapped and Society, Essay - Speaking Out : The political career of Helen Keller, J.C. Quicke, Volume 3, No. 2, 1988, Editor, Less Boston, Department of Education, Bristol Polytecnic, P-168*

डा. अनिमा सेन ने भी लिखा है–"**अपंगता उस समय महत्वपूर्ण समस्या बन जाती है जब विकलांगों के साथ शारीरिक अशक्तता के साथ-साथ सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक अपंगता आती है। कहीं-न-कहीं यह विकलांगों के आत्मसम्मान पर चोट पहुँचाती है।**"[1]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि विकलांगों को विकलांग परिवार और समाज बनाता है। प्रकृति प्रदत्त विकलांगता पर वह विजय तो प्राप्त कर सकता है, लेकिन समाजनिर्मित विकलांगता पर नहीं। समाज को विकलांग जनों की योग्यता तथा क्षमता पर विश्वास करना चाहिए, प्रोत्साहन करना चाहिए। यदि प्रोत्साहन का कार्य भी नहीं हो सकता तो हतोत्साहित करने का भी अधिकार उन्हें नहीं है।

---

1. *Anima Sen, psycho-social integration of the Handicapped, a challenge of the society, Mittal Publication, Delhi, First Edition 1988, p. 52*

द्वितीय अध्याय

हिन्दी कथा साहित्य में विकलांग-एक सर्वेक्षण

1. *राजा राधिका रमण प्रसाद सिंह, सूरदास (1942)*
2. *फणीश्वरनाथ रेणु, मैला आँचल (1954)*
3. *श्री लाल शुक्ल, राग-दरबारी (1965)*
4. *अमृत लाल नागर, खंजन नयन (1981)*
5. *प्रियंवद, वे वहाँ कैद हैं (1994)*
6. *मृदुला सिन्हा, ज्यों मेंहदी को रंग (2003)*
7. *अलका सरावगी, कोई बात नहीं (2004)*

हिन्दी कथा साहित्य में विकलांग-एक सर्वेक्षण

तुलसीदास कृत 'रामचरितमानस' भारतीय समाज में रचा-बसा महाकाव्य है। 'महाभारत' भी इसी श्रेणी का महाकाव्य है। इन दोनों कृतियों ने न केवल भारतीय सभ्यता और संस्कृति को प्रभावित किया है, बल्कि वैश्विक समाज पर भी अपनी छाप छोड़ी है। लेकिन विकलांगों के प्रति दोनों रचनाकारों का व्यवहार उपहासात्मक है। तुलसीदास और वेद व्यास ने विकलांगों का चित्रण कुत्सित पात्र के रूप में किया है। 'महाभारत' में अंधेपन के कारण धृतराष्ट्र हमेशा उपहास व निरादर का पात्र बनते हैं। उनके पुत्र दुर्योधन को 'अन्धे का पुत्र अन्धा' कहकर उपहास किया जाता है। ऐसी ही स्थिति 'रामचरित मानस' की भी है। मंथरा दासी का उपहास जगह-जगह पर किया गया है। महाकवि तुलसीदास ने 'ढोल गँवार, शूद्र, पशु, नारी' की तर्जपर विकलांगों की स्थिति पर भी कटाक्ष किया है। वे लिखते हैं–

'काने खोरे कूबरे कुटिल कुचाली जानी।'

अर्थात् कानों, लंगड़ों और कुबरों को कुटिल और कुचाली मानना चाहिए। ऐसे लोग मंथरा की तरह घर फोड़ने वाले होते हैं। यह है भारतीय महाकाव्यों की दृष्टि–विकलांगों के बारे में। यद्यपि गोस्वामी तुलसीदास और महाकवि वेदव्यास की ऐसी धारणा लोक प्रचलित मान्यताओं और लोक-विश्वासों के कारण बनी है। कोई भी रेचनाकार चाहे वह महान ही क्यों न हो, अपनी लोकगत विश्वासों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते।

हिन्दी कथा साहित्य में विकलांगों का चित्रण किस प्रकार है, दूसरा अध्याय इसी पर आधारित है। इस अध्याय में प्रेमचंद से लेकर वर्तमान लेखिका अलका सरावगी तक का विश्लेषण किया गया है। हिन्दी कथा साहित्य के एक दो उपन्यासकारों को छोड़कर सभी ने विकलांगों का चित्रण मानवीय भाव-बोध के आधार पर किया है। इससे विकलांगजन को थोड़ी राहत मिल सकती है। प्रेमचंद के 'रंगभूमि' का सूरदास अपने प्रभाव और व्यक्तित्व का विकास इस स्तर तक कर लेता है कि कभी-कभी पाठकों को उन्हें विकलांग मानने पर संकोच होने लगता है। बाबजूद इसके वे विकलांग हैं। दूसरी ओर अलका सरावगी न सिर्फ अपने शिल्प

विधा में नवीन हैं बल्कि उनका भावबोध भी नयी दृष्टि का सृजन करता है। इस अध्याय में सात उपन्यासों का वर्णन विकलांगता की दृष्टि से किया गया है। आठवां उपन्यास 'रंगभूमि' का विश्लेषण तीसरे अध्याय में विस्तार से किया गया है। सात उपन्यास निम्न हैं–

1. राजा राधिका रमण प्रसाद सिंह ┤ सूरदास (1942)
2. फणीश्वरनाथ रेणु – मैला आँचल (1954)
3. श्री लाल शुक्ल ┤ राग-दरबारी (1965)
4. अमृत लाल नागर ┤ खंजन नयन (1981)
5. प्रियंवद – वे वहाँ कैद हैं (1994)
6. मृदुला सिन्हा ┤ ज्यों मेंहदी को रंग (2003)
7. अलका सरावगी ┤ कोई बात नहीं (2004)

सूरदास (राजा राधिका रमण प्रसाद सिंह)

'सूरदास' राजा राधिका रमण प्रसाद सिंह का उपन्यास है, जो विकलांगता को आधार बनाकर लिखा गया है। उपन्यासकार ने एक ऐसे विषय को कथानक बनाया है, जिस पर लिखना, बोलना और पढ़ना भारतीय समाज में अपराध माना जाता है। वह विषय है—प्रेम, उपन्यास में एक नेत्रहीन पात्र है—सूरदास। सूरदास से एक अन्य नेत्रहीन महिला धनिया प्रेम करती है। सूरदास भगवान राम का परम भक्त है। वह राम को छोड़कर धनिया से प्रेम नहीं करना चाहता, क्योंकि उसे विश्वास है कि विषय-वासना भगवद् भक्ति में बाधक है। उपन्यास इसी ऊहापोह की कहानी कहता है।

सूरदास का परिचय इस प्रकार है। सूरदास का घर का नाम मुरारी है। बचपन में ही उसकी दोनों आँखें खराब हो गई थी। उसके माता-पिता का देहान्त बचपन में ही हो गया था। वह बिल्कुल अनाथ था। हारकर वह मंदिर का शरण लेता है, जहाँ पहले उसकी माता पुजारिन थी। मंदिर के साधुबाबा ने भजन-कीर्तन के लिए अपनी मंडली में उसे रख लिया। वहीं रहकर वह भगवान राम की सेवा टहल करने लगा। लेकिन यह बहुत दिनों तक नहीं चल पाया। कुछ दिनों के बाद ही साधुबाबा का देहान्त हो गया और कोई दूसरा साधु मठाधीश बनकर आया। यह साधु चलता पुर्जा और पैसा पकड़ने वाला था। उससे सूरदास इस तरह से आराम की रोटी तोड़ते नहीं देखा गया। उसने सूरदास से कहा कि तुम काशी घाट पर जाकर भीख मांग सकते हो, तुम्हारा गला भी ठीक है, गाते भी अच्छे हो। न चाहकर भी सूरदास को उनकी बात माननी पड़ीं उसे प्रतिदिन पाँच कोस काशी घाट के लिए जाना पड़ता था और शाम तक लौटना? जाड़ा गर्मी और बरसात की मार अलग से। एक तरह से भगवत् भजन पर ग्रहण सा लग गया। सूरदास रोजाना शाम को थका-मांदा आता और न चाहकर भी सो जाता। यही उनकी दिनचर्या हो गयी थी। काशी घाट पर बैठकर यात्रियों के सामने हाथ फैलाना एक तरह का भीख मांगना

ही था। सूरदास के चाचा बुलाकी से यह देखा नहीं गया। खून का रिश्ता हिलोरें मारने लगा। उन्होंने सूरदास से बात की। सूरदास भी परेशान था। बुलाकी ने अपने मालिक (राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह) से कहकर सूरदास को पंखा झलने का काम दिला दिया। वह प्रतिदिन मालिक की ड्योढ़ी पर जाता और पंखा झलने का कार्य करता। पास में ही भगवान का मंदिर था, वहाँ जाकर भगवद् भजन भी कर लेता। यानी सूरदास की जिंदगी बहुत अच्छी कटने लगी थी। लेकिन यह बहुत दिनों तक नहीं चल पाया। उनका धनिया से बावस्ता हुआ। धनिया भी बीस वर्ष की नेत्रहीन महिला थी। लेखक ने लिखा है–**"कोई बीस साल की होगी। नाक-नक्शा मज़े का है। कुछ अजब चंचल-फुर्तीली। आँखें होतीं तो जाने क्या होती। यों देखने से तो पता भी नहीं चलता कि वह अन्धी है–ऐसी चुलबुल है वह।"**[1]

सूरदास और धनिया पर चर्चा करने के पहले सूरदास के आध्यात्मिक और दार्शनिक विचारों पर बात कर लेना उपयुक्त होगा। सूरदास राम का बड़ा भक्त है। उसकी नजरों में राम से बड़ा कोई दूसरा भगवान नहीं है। आँखें न होना वह अपने लिए वरदान मानता है। उपन्यासकार और सूरदास में आँख के होने और न होने, इनके लाभ और हानि पर आध्यात्मिक बहस होती है। उपन्यासकार का मानना है कि आँख के न होने के तरस से बढ़कर दुनिया में दूसरा कोई तरस नहीं है। वह उपन्यास की शुरूआत ही आँखों की महत्ता से करता है। उन्होंने लिखा है–**"ऐसी अनमोल हैं ये आँखें! जभी तो हमें लगता है कि जिसने दुनिया में आकर दुनिया नहीं देखी वह अभागी यहाँ आया ही नहीं? आ भी गया तो ठहरा क्यों? और जो दस दिन दुनिया देख कर फिर आँखें खो बैठा, वह जन्म का अन्धा ही क्यों न हुआ? उसकी तरस के बराबर दुनिया में कोई तरस होगी?"**[2]

उपन्यासकार ने आगे लिखा है–**"मगर उस दिन सूरदास को जो देखा तो मेरे अचरज की सीमा न रही। कोई आँख वाला वैसा मस्तमौला क्या होगा? वाह री दरिया दिली! कहीं भी कोई शिकायत नहीं; किसी के विरुद्ध कोई अभियोग नहीं। काश, ईश्वर में**

---

1. *सूरदास - राधा राधिका रमण प्रसाद सिंह, राजा राधिका रमण ग्रंथावली, तीसरा खण्ड, श्री राजराजेश्वरी साहित्य मंदिर, पटना-14, अशोक प्रेस, पटना, प्रथम संस्करण-1978, पृ. सं.-30*
2. *वही, पृ. सं.-01*

वैसी हमारी भी आस्था होती। उसका सर्वस्व हे राम और बस राम। जब सुनो, तब राम का नाम, जब देखो, तब राम का ध्यान। दोनों जून पसीने की रोटी मिलती रहे, राम-भजन रीति बनी रहे—और बस पाँचों ऊँगलियाँ घी में हैं।"[1]

एक दिन राजा राधिका रमण के एक मित्र ने सूरदास को छेड़ दिया। उन्होंने व्यंग्य करते हुए सूरदास से कहा—**"तुम आठो पहर राम का नाम तो लेते हो, वह तुम्हें आँख देगा?"**[2]

इस पर सूरदास आँखें तरेर कर जवाब देता है—**"कैसी आँख? चामवाली? माफ कीजिए, उस आँख का मैं भूखा नहीं....भूखा हूँ उसके स्नेह का।"**[3] एक दिन ऊबकर स्वयं लेखक भी उससे उलझ जाता है—क्या बेकार रट लगाए हो सूरदास? तुम्हारे राम ने तो तुम्हें कहीं का न रखा। सो कैसे मालिक? वही तो मेरी इस झांझर नैया का खेवनहार है।

लेखक कहते हैं—"मगर नाव तो झांझर है। आँखें खुली रहतीं तो तुम खुद खे लेते न! यों तो जाने किस घाट लगेगी।

इसका जवाब सूरदास दार्शनिक अंदाज में देता है—"ना-ना सरकार! गुरु महाराज तो कहते रहे कि आँख न होना एक लिहाज से अच्छा ही हुआ—**"आँखों के उत्पात से तो बचे। यों तो जाने कहाँ-कहाँ टक्कर लेतीं। ऐसे कि इन आँखों का क्या एतबार? आँखों के चलते भगवान के दर्शन भी कभी नसीब होने को हैं? जब आँखों के सामने आठों पहर रूप का चस्का है, तो फिर मन का रूख किधर होगा—भगवान की ओर? हुआ है किसी को ऐसा?"**[4]

सूरदास के उपर्युक्त जवाब पर संस्कृत का यह श्लोक याद आ जाता है—'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी'—क्या हम मान लें कि हम जहाँ सोते हैं, वहाँ से अंधे जागते हैं? हम आँख की वजह से संसार में लिप्त हैं और वे आँख न होने से अलिप्त? हमारी आसक्ति और विषय वासना का प्रमुख कारक है—यह आँख। इसकी क्या गारंटी है कि आँखों की

---

1. *सूरदास - राधा राधिका रमण प्रसाद सिंह, राजा राधिका रमण ग्रंथावली, तीसरा खण्ड, श्री राजराजेश्वरी साहित्य मंदिर, पटना-14, अशोक प्रेस, पटना, प्रथम संस्करण-1978, पृ. सं.-2*
2. *वही, पृ. सं.-2*
3. *वही, पृ. सं.-2-3*
4. *वही, पृ. सं.-5*

बहिर्मुखी चेष्टा पाने से हृदय की अन्तर्दृष्टि खुल जाती है? क्या ईश्वर के शरण में जाने वाले सभी दृष्टिहीन होते हैं? क्या आँख वाले भगवत् भक्ति में प्रवीण या आसक्त नहीं होते? भगवान जाने उसकी आँखों की ज्योति कायम रहती, तो उसके जीवन का प्रवाह किधर होता—लोक की और या परलोक की ओर।

दूसरी बात, जिसे आँखें नहीं होती उसे जुबान, कान और स्पर्श का रस तो मिल ही सकता है। जुबान की जादू क्या कम है? रूप न सही स्वर क्या कम है; स्पर्श रस क्या कम है?

ये सारे प्रश्न सूरदास के दार्शनिक तथा आध्यात्मिक विचारों के प्रतिकूल जाते हैं। सूरदास के उक्त विचार से पूर्णतः सहमत नहीं हुआ जा सकता। इसकी चर्चा 'थ्योरी ऑफ आइडेनटिटी' (Theory of Identity) के संदर्भ में—आगे की गई है।

अब हम सूरदास और धनिया के संबंध पर चर्चा करना चाहेंगे।

राजा साहब के यहाँ धनिया की नियुक्ति उनकी चाची सुखिया के मर जाने के कारण हुई। सुखिया राजा के महल में पंखा झलने का काम बहुत पहले से किया करती थी। राजा साहब पंखे के बिना रह नहीं सकते थे, इसलिए धनिया को इस काम के लिए रख लिया गया। धनिया को खोजने का काम सूरदास के चाचा बुलाकी ने किया था। धनिया पहले दिन जब पंखा झलने आयी, उस समय सूरदास का शिफ्ट था।

सूरदास छूटने पर इसके पहले पंखे की डोरी मंगरू के हाथ में दिया करता था। लेखक ने लिखा है—**"उस दिन धनिया पंखा की डोरी लेने आई तो उसके पैरों की लीला, चंचल आहट सूरदास के कानों से बच न पाई। कुछ अजब शोख हैं, अंधों के कान! जाने क्या-क्या सुन लिए! देखा एक अजब परीशानी-सी उभर आई है उस पर —जैसे उसके अस्तित्व का जर्रा-जर्रा खिंच कर तन गया हो, वह ताड़ गया कि हो-न-हो, यह किसी अपरिचित पैर की थाप हैं। नहीं ता बरामदे के कोर पर धनिया के कदम आते ही वह अकचका कर क्यों पूछ बैठता—"कौन है भाई?"**[1]

धनिया जब करीब आ गई, तो सूरदास पंखे की डोरी जमीन पर रख कुछ दूर सरक गया।

---

1. *सूरदास - राधा राधिका रमण प्रसाद सिंह, राजा राधिका रमण ग्रंथावली, तीसरा खण्ड, श्री राजराजेश्वरी साहित्य मंदिर, पटना-14, अशोक प्रेस, पटना, प्रथम संस्करण-1978, पृ. सं.-32*

आँखें फाड़ देखना तो उसके लिए दुश्वार था—नथने फाड़ जाने क्या सूँघने लगा, कान खड़े कर जाने क्या सुनने लगा? चेहरे की एक-एक शिरा नंगी तलवार सी तन गई। इसके पहले वह पंखा की डोरी छोड़ते समय 'सीता राम', 'जय सिया राम' कहता था लेकिन आज इसकी जगह पर 'हरे राम' जाने कहाँ से उठ आया। सूरदास दूर हटकर खड़ा हो जाता है, और किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर सोचने लगता है।

यह देखकर उपन्यासकार के मन में कुतूहल वृत्ति जाग उठती है। वह सोचता है—"**जरा-से ठुमकते पैरों के सूक्ष्म संकेत पर, उस अंधे की चेतना पर ऐसी प्रतिक्रिया! तो क्या उसके मन की कोई बारीक संग्राहिणी वृत्ति उसके मर्म के कानों को किसी की आमद की सूचना दे गई? सम्भव है, उस खरामेनाज की भंगिमा उसके दिल के पहलू पर गुल कतर गई! तो खिलेगा कोई नया गुल? बगैर देखे भी उसने उसे एँड़ी से चोटी तक देख लिया। यह पहचान न होती, तो उसकी यह झिझक, होती! वह ताड़ गया कि यह कोई ऐसी-वैसी नहीं—कातिल है कातिल! आई है मेरी दुनिया पलट कर धर देने...।**"[1]

लेकिन सूरदास के इस प्रस्ताव से उपन्यासकार की सारी कल्पनाओं पर पानी फिर जाता है। सूरदास ने एक अजब झिझक से मालिक को कहा—तो सरकार! हम रात की ड्यूटी में क्यों न आएँ?

सूरदास अपनी बंद दृष्टि से आने वाले खतरे को भाँप गया। काम तो सूरदास को भी करना है, क्योंकि पापी पेट का सवाल है, लेकिन अपने राम से विमुख होकर नहीं। इसलिए वह रात के शिफ्ट में काम करने की इच्छा जाहिर करता है। इसलिए कि रात में धनिया से बावस्ता नहीं होगा।

एक दिन की घटना है। सूरदास पंखा कर रहा था। धनिया शिफ्ट बदलने आयी। वह डोरी की टोह में सूरदास के कंधे को स्पर्श कर जाती है। इस पर सूरदास भड़क उठता है। हठात एक अजब झुँझलाहट की आवाज में कह उठता है—"**अब तो मालिक! यही रहे या हम। हम तो डोरी अन्दाज से रख देते, यह उठा लेती। यह कंधे पर झुककर डोरी थामने लगी।**"[2]

---

1. *सूरदास - राधा राधिका रमण प्रसाद सिंह, राजा राधिका रमण ग्रंथावली, तीसरा खण्ड, श्री राजराजेश्वरी साहित्य मंदिर, पटना-14, अशोक प्रेस, पटना, प्रथम संस्करण-1978, पृ. सं.-33*
2. *वही, पृ. सं.-35*

इस पर मालिक धनिया से सहानुभूति जताते कहता है–"तो आखिर हुआ क्या? अंधी तो वह भी है बिचारी। भूल से अगर....।" सूरदास इस पर कहता है–**"मालिक यह भी कोई भूल है? यह तो सरासर बदजाती है–बदजाती। जानती है कि हम औरत के दरस-परस से कोसों दूर रह आये। गुरु महाराज तो मरते दम तक....।"**[1]

लेखक को लगा कि सूरदास मात्र दिखावटी बहाना कर रहा है। शुरुआती प्रेम में इसपकार शिकायती झड़प तो होती ही हैं। वह सोचता है–**"तो क्या जगा दिया यौवन के इस स्पर्श ने उसके शरीर की सोई सत्ता की? क्या आज स्फुरित हो गया चैतन्य उस शरीर-पंजर में? वह यह लौ है, जिसे वह समझ नहीं पाता कि क्या है? ऐसी सिहर-भरी उद्दीपना को जानने का उसे अवसर ही कहाँ मिला अब तक? परिचय होता, तो पहचान पाता। आज वह चकित, विचलित, स्तंभित है, तो आश्चर्य ही क्या?"**[2]

धनिया बहुत ही चुलबुली लड़की थी। सूरदास को परेशान करने में उसे आत्मिक सुख मिलता था। एक दिन उन्होंने सूरदास की लाठी छुपा दी। सूरदास बिना लाठी के सहारे ही सीढ़ियाँ उतरने लगा। लेखक दूसरे नौकर को जब तक आवाज देता, धनिया अपनी लाठी के सहारे सूरदास का कंधा पकड़कर सीढ़ियाँ उतार दिया। वह उसी तरह काँपता झिपता उतर गया लेकिन दस कदम जाकर वह धरती पर बैठ गया। कंधे से झोली उतारकर अपनी लुटिया निकाला। लुटिया में थोड़ा गंगा जल लेकर कुछ गुनगुनाकर अपने सर और कंधों पर छिड़का। धनिया के छू जाने से पवित्र होने का प्रयोजन किया। इस शारीरिक पवित्रता के प्रयोजन को सुनकर धनिया और भी जलभुन गई। दूसरे दिन सूरदास की लुटिया, रामनामे की चादर और माला गायब हो गई। माला और चादर सूरदास का कवच और कुण्डल था। वह गुरु महाराज का प्रसाद तो है ही, उसके धार्मिक जीवन का सर्वस्व भी है। यह गई तो वह कहीं का नहीं रह पाएगा। इनके बिना न तो उसकी निष्ठा निभ पाएगी और न ब्रह्मचार्य की साधना। सूरदास को विश्वास था कि उसकी माला और चादर धनिया ने चुराई है। इसके बिना उसकी तपस्या

---

1. *सूरदास - राधा राधिका रमण प्रसाद सिंह, राजा राधिका रमण ग्रंथावली, तीसरा खण्ड, श्री राजराजेश्वरी साहित्य मंदिर, पटना-14, अशोक प्रेस, पटना, प्रथम संस्करण-1978, पृ. सं.-35*
2. *वही, पृ. सं.-36*

व्यर्थ हो जाएगी और वह निडर होकर इस पर आक्रमण करेगी। वह मुझे नरक में ठेलना चाहती है। सूरदास ने साफ-साफ धनिया पर आरोप लगाया और कहा–**"तू माला और चादर वापस नहीं देगी, तो मैं इसी मालती (एक विशेष प्रकार का पेड़) के तले दम तोड़ दूँगा। बैठता हूँ आसन मारकर। खाना-पीना हराम।"**[1]

इस पर धनिया हड़बड़ा गई। माला और चादर उसने दी छिपायी थी। उसे पता था कि सत्याग्रह की यह धमकी बंदर की घुड़की नहीं बल्कि गाँधी जैसा दृढ़ है। वह माहौल को हल्का करते हुए बोली–**"तू ने योंही शोरगुल कर रखा है। देखा भी है कभी झोली टटोलकर? सूरदास ने जवाब दिया–"हाँ सौ बार देखा है। धनिया स्थिति को और भी हल्का करते हुए बोली–"अरे भाई जाकर देख तो सही। हमारी देवी तो कहती है कि कहीं भी कुछ गई नहीं।"**[2]

जब देखा गया तो झोली से लुटिया और चादर निकला लेकिन माला अभी भी गायब थी। सूरदास चिल्लाया–माला क्या हुई। वह भी यहीं है। हम तो अंधी होकर भी देख पाती हैं। सूरदास ताड़ गया कि माला धनिया के गले में है। हाथ बढ़ाकर उन्होंने माला छीनना चाहा कि माला टूटकर बिखर गई और धनिया खिलखिलाकर हँस पड़ी। इस पर सूरदास को गुस्सा आ गया और उन्होंने धनिया को ऐसा झापड़ मारा कि उनका सर दूर जाकर आम के तने से टकराकर लहुलुहान हो गया। सूरदास पर लोगों की फब्तियाँ पड़ने लगी। उसे तो मानो काठ मार गया। जैसे हत्या लग गयी हो। सारी मर्यादा त्याग उसने अपने धोती का छोर फाड़कर चोट को बाँधना चाहा कि धनिया ने मुँह बनाते हुए कहा–**"जैसे कि तेरी माला किसी के काम आती! सोना मढ़ा रहता, तो जाने क्या कर बैठता तू।"**[3]

दूसरे दिन सूरदास ने काम-धाम छोड़ मठ की राह ली। वह अपने चाचा बुलाकी से कहता गया–हमारा धरम यहाँ नहीं निभने का। यह छोकरी हमें राम से भी विमुख करके दम लेगी।

---

1. *सूरदास - राधा राधिका रमण प्रसाद सिंह, राजा राधिका रमण ग्रंथावली, तीसरा खण्ड, श्री राजराजेश्वरी साहित्य मंदिर, पटना-14, अशोक प्रेस, पटना, प्रथम संस्करण-1978, पृ. सं.-42*
2. *वही, पृ. सं.-42*
3. *वही, पृ. सं.-43*

उपन्यासकार ने लिखा है–"**जा भाई विदेशी जा! हमारे यहाँ की मोह-माया से दूर अपने साजन की नगरिया जा। यह दिल की मचलों की गली है–हँसने रोने का देश। तेरा यहाँ गुजर नहीं।**"[1]

किसी शायर का यह शेर सूरदास पर उपयुक्त जँचता है–

"आता नहीं शराब के जलसों में किसलिए,
पी लेगा क्या यहाँ कोई जाहिद को घोलकर।"

बेशक सूरदास को शराब और शबाब दोनों की जरूरत नहीं। यह तो सांसारिक लोगों के लिए है। सूरदास सांसारिक बनना भी तो नहीं चाहता।

सूरदास के चले जाने पर राजा साहब को दिक्कत होने लगा। उन्होंने धनिया से पूछा–"**सच तो कह, तूने सूरदास का माला चादर और बुलाकी की गुडगुड़ी क्यों चुरा कर रख दी थी? बोल डर मत।**"[2]

सरकार! चाचा तो बड़ा डकैत मर्द बनता रहा, भतीजा बड़ा भक्त। बात-बात में वही तेवर! हमसे उसकी ऐंठ सही नहीं गई। सरकार तो देखते ही थे कि सूरदास का कहीं एक छोर छू गया, तो बाप रे, जैसे हम कोई भंगिन हैं। आठो पहर छी-छी, दूर-दूर। खींचने को पंखा, बनने को कहाँ का महात्मा। हमने कहा–"**हे मन, उड़ाओ यह माला और यह चादर। न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी।**"[3]

मालिक हँसकर बोला–तो सूरदास को तूने भगाया तो खींच सारी रात पंखा। सूरदास मजबूत और कामचोर नहीं था। उस जोड़ का पंखावान नहीं मिला था। ईमानदारी से काम करता था। इसलिए राजा साहब ने बुलाकी को बोला तुम सूरदास को बुला लाओ। बुलाकी सूरदास के अड़ियलपन से परिचित था। वह टस से मस नहीं हुआ। तब उन्होंने मंगरू को भेजा। वह गया और दूसरे दिन खाली हाथ लौट आया। उन्होंने देखा सूरदास आठों पहर राम के मंदिर में पड़ा रहता है–आँसुओं से सराबोर। गुरु की चरण-पादुका छाती से लगाए रखता

---

1. *सूरदास - राधा राधिका रमण प्रसाद सिंह, राजा राधिका रमण ग्रंथावली, तीसरा खण्ड, श्री राजराजेश्वरी साहित्य मंदिर, पटना-14, अशोक प्रेस, पटना, प्रथम संस्करण-1978, पृ. सं.-43*
2. *वही, पृ. सं.-45*
3. *वही, पृ. सं.-45*

है। नए महंथ ने मंगरू से कहा कि सूरदास को बड़ा पछतावा है कि वह क्यों राम-जानकी की सेवा छोड़ दुनिया में भटक पड़ा।

लेकिन सूरदास की मंदिर में भी खैर नहीं था। फिर उसे भीख मांगने के लिए विवश होना पड़ा। एक दिन की बात है सूरदास इसी गली से खंजड़ी बजाते और गाते सुनाई दिया। अब लौं नसानी, आब ना नसैहों। मालिक ने सूरदास को पुकारा–**"सूरदास क्यों नाहक यह धूल फाँक रहे हो? क्या यहाँ तुम्हें राम भजन का सुभीता नहीं था। इस पर सूरदास चौककर बोला–सरकार! धनिया ने हमें कहीं का नहीं रखा। ऐसा सिर हो गई थी वह कि क्या कहूँ! इतन में पता नहीं धनिया भी कहा से चली आयी। वह गिड़गिड़ाकर सूरदास के पैरों पर लोट जाती है और कहने लगती हैं–मालिक! गुरु गोसइयाँ की सौंगध, आज से....।"**[1]

सूरदास चीख कर बोला–छोड़-छोड़, पैर छोड़। इसके बाद उनका कदम अनायास ही फाटक की ओर बढ़ गया। मालती के पेड़ के नीचे हमेशा की तरह वह बैठ गया। इस प्रकार दोनों में फिर बातचीत होने लगी लेकिन एक दूरी बनाकर।

धनिया की चुहलकदमी थमने वाली कहाँ थी। एक दिन रात में सूरदास की ड्यूटी थी। धनिया का शिफ्ट सुबह से था। लेकिन धनिया मानने वाली लड़की थी नहीं। उसे सूरदास को छेड़ने में असीम आनंद मिलता था। उस रात धनिया फिर आ धमकी। सूरदास कहता है–'तू फिर आई?' धनिया को सूरदास के स्वास्थ्य की चिंता है वह कहती है–करती क्या, मंगरू तो बीमार है। तू अकेला रात भर खटेगा। धनिया सूरदास के हाथ से पंखे की डोरी लेना चाहती है। सूरदास मना करता है–हैं-हैं! आज एकादशी है। छूना मत...। और सूरदास बायीं ओर दूर मुड़ गया। लेकिन धनिया को इसकी परवाह नहीं थी। छीना-झपटी में धनिया का कंधा सूरदास की छाती से टकरा गया। सूरदास आ गया तैश में। चील-झपट्टे की तरह उसने डोरी छीननी चाही कि हाथ का वार जन्नाटे पर पड़ा कि बिचारी दुबली-पतली धनिया कोने के खंभे से टकराकर बरामदे के नीचे गिर पड़ी।

---

1. *सूरदास - राधा राधिका रमण प्रसाद सिंह, राजा राधिका रमण ग्रंथावली, तीसरा खण्ड, श्री राजराजेश्वरी साहित्य मंदिर, पटना-14, अशोक प्रेस, पटना, प्रथम संस्करण-1978, पृ. सं.-46*

सूरदास का कर्त्तव्य बोध जाग गया। वह पछताने लगा। भूल गया वह अपना व्रत, पी गया वह अपना प्रण। लेखक ने लिखा है–"**शरीयत का तकाजा कुछ हो, ऐसे पल में आदमीयत का तकाजा सब पर बाला है।**"[1]

सूरदास धनिया को दोनों हाथों से समेट धीरे-धीरे सीढ़ियों से ऊपर चढ़ आया और लगा सोचने अब क्या किया जाय। लेखक स्वयं इन सारी क्रिया-कलापों को देख रहे हैं। उन्होंने आगे लिखा है–"**धनिया को चोट कहाँ है, कितनी है, पता नहीं, पर वह सूरदास की छाती पर दुबकी सिकुड़ी अधमरी-सी पड़ी है। उसके दोनों हाथ सूरदास के गले में झूल रहे हैं। एकाध बार सिसक कर वह हाथ-पाँव तोड़ जाने कैसी हो गई।**"[2]

इस दृश्य को देखकर लेखक तरह-तरह की कल्पना करता है। उनको लगता है कि ये लोग जान-बूझकर यह नाटक कर रहे हैं। उन्होंने लिखा भी है–"**कौन कहे, कहीं उसकी विरोधी भावनाओं की तरंगें न उठती हों। बाप रे, यही न है वह-वह, जिसे गुरू महाराज कहा करते–'बचकर रहना सूरदास! धधाकर छूए कि लहर चढ़ी। तो क्या यही है युवती का विप्लवी स्पर्श! बोल रे मन! बोल, तू क्या चाहता है? यह या वह? यह तो करतल है और वह सुदूर वर्षों की साधना का लक्ष्य! बोल क्या लेगा–यह या वह?**"[3]

सूरदास के हाव-भाव और व्यवहार से कभी-कभी लगता है कि वह द्वन्द में फंसा है। लेखक का अनुमान कभी-कभी सही भी लगता है। ऐसा लगता है कि सूरदास जीवन के दो रूखी धाराओं के बीच गोते खा रहा हो। लेकिन यह अनुमान निम्न घटना से गलत साबित हो जाता है। राम भक्ति की जीत होती है और काम और विषय वासना की हार।

एक दिन धनिया चक्की चलाती हुई कुछ गा रही थी। सूरदास धनिया से दस कदम दूर खड़ा होकर उनकी गीत को सुन रहा था। यह देखकर लेखक की शंका मजबूत होने लगी। उन्हें लगा कि सूरदास धनिया को चाहता तो जरूर है, तभी तो मंदिर का काम छोड़कर भी वह धनिया को चुपके से सुन रहा है। आखिर इस गीत में सूरदास का कौन सा दर्द छिपा है कि

---

1. *सूरदास - राधा राधिका रमण प्रसाद सिंह, राजा राधिका रमण ग्रंथावली, तीसरा खण्ड, श्री राजराजेश्वरी साहित्य मंदिर, पटना-14, अशोक प्रेस, पटना, प्रथम संस्करण-1978, पृ. सं.-54*
2. *वही, पृ. सं.-55*
3. *वही, पृ. सं.-55*

मंदिर का काम भी छोड़कर उसे ध्यान से सुन रहा है। उसकी किस भावना को कुरेदा है, इस गीत ने। मालिक को मन की बात जानने की उत्सुकता हुई और दूसरे दिन उन्होंने सूरदास से पूछ भी लिया—"**भला कहो तो सूरदास! यह बैठे-बिठाये क्यों उलझ पड़े तुम? आखिर क्या रखा था उसके गाने में? आखिर उस गले में क्या जादू है कि...।**"[1]

इस पर सूरदास ने जवाब दिया—"**मालिक कहाँ का जादू और कहाँ का टोना! गले में न लोच है, न मिठास। क्या जाने वह गाना? मैं तो उस गाने पर गया।....यही गाना मेरी माँ भी चक्की पर गाती रही। आज जाने कितने बरसों पर जो सुना, तो याद आ गये बचपन के वे दिन....वह नये गेहूँ की दलिया!**"[2]

लेखक को स्वयं पर बहुत पछतावा हुआ। सूरदास की वेदना तो कुछ और है? यह तो मेरी समझ की भूल है। धनिया उसके हृदय में नहीं उतरी है, वह तो अपनी माँ की याद में इतना ध्यानमग्न होकर गीत सुन रहा था। लेकिन लेखक मानने वाला कब था? उन्होंने सूरदास को फिर से छेड़ा और पूछा—सूरदास, सच कहो, तुम्हें कोई दुःख है? सूरदास ने जबाब बड़े ही दार्शनिक अंदाज में दिया—'दुःख? हम तो जनम के दुखिया ठहरे मालिक।' लेखक इस तरह के जवाब की अपेक्षा नहीं कर रहा था। उन्होंने भी ठान लिया कि उनकी आँखों में उँगलियाँ डाल उसे उसका अभाव दिखा ही देना चाहिए और उन्होंने सूरदास से खुलकर कहा—"**सुनो सूरदास, तुम्हें पता चाहे न हो, पर तुम्हारा स्नेह का भूखा हृदय ढूँढ़ रहा है एक सुख-दुःख का संगी! समझे।**"[3]

सूरदास ने फिर दार्शनिक अंदाज में जबाव देते हुए कहा—हमारे जीवन के सच्चे संगी तो ये है न मालिक! उन्होंने अपनी माला और चादर पर अपनी उँगली रखी। गुरु महाराज तो कह गये कि एक राम-भजन का आसरा रखना। बस, यही अकेला अपना है, बाकी सब पराया। इस जीवन की मांग भी तो कोई और नहीं। गुरु महाराज तो बराबर कह गये कि सूरदास तुम एक-एक इन्द्रिय को अपना मुँह-मीठा दुश्मन समझना। खैरियत है कि इन शत्रुओं की सेना का

---

1. *सूरदास - राधा राधिका रमण प्रसाद सिंह, राजा राधिका रमण ग्रंथावली, तीसरा खण्ड, श्री राजराजेश्वरी साहित्य मंदिर, पटना-14, अशोक प्रेस, पटना, प्रथम संस्करण-1978, पृ. सं.-61*
2. *वही, पृ. सं.-62*
3. *वही, पृ. सं.-63*

जो सेनापति है—आँख उसे भगवान ही ने हमारे लिए ऐसा निस्तेज कर दिया कि यह किसी फसाद के काबिल न रही।

सूरदास अपनी आँख का न होना अपने लिए वरदान समझता है। क्या यह व्यावहारिक है? या फिर दिल को सांत्वना देने की एक कोशिश। यदि इस बात में दम है तो सभी लोग अंधा ही होना क्यों नहीं चाहता? इत्यादि। खैर जो भी हो, सूरदास अपनी नैतिक शुचिता को बनाये रखने में सफल होता है।

मालिक को कुछ दिनों के लिए बाहर जाना था। सूरदास और धनिया को पंखा झलने से फुर्सत मिली। सूरदास अपना झोली डंडा लेकर मंदिर चला गया। धनिया की इसी बीच शादी कर दी गई। उनकी बेमेल शादी हुई। उनका पति साठ साल का बुढ्डा था। धनिया रोती-धोती ससुराल गई। लेकिन कुछ दिनों में ही वह वहाँ से लौट आयी। अब जाने का नाम ही नहीं लेती। एक तो बूढ़ा और दूसरा शराबी। धनिया को उसके मुँह की गंध से ही जी औकी आता। वह मालिक के पास आकर बोली—मालिक अब वहाँ कभी नहीं जायेंगे। जीना-मरना अब आपके ही द्वार पर।

धनिया भीतर से सूरदास को चाहती थी। इसलिए वह हमेशा उसे छेड़ा करती थी। शायद इस छेड़छाड़ से सूरदास का प्यार जाग जाये। सांसारिकता के प्रति उसकी आसक्ति भड़क जाये। इस तरह के कई उदाहरण उपन्यास में भरे पड़े हैं। लेकिन सूरदास का दिल मोम का नहीं था, वह अपने आरज पथ से टस-से-मस नहीं होता था।

एक रात धनिया को पंखा झलते-झलते पीठ में खुजली हुई। चाहती तो वह दीवार में रगड़ कर भी खुजली मिटा सकती थी। लेकिन वह सूरदास से खुजलाने को कहती है। सूरदास नींद में कुछ निंदियाया सा कुछ भौंचक सा उसकी पीठ सहला नहीं पाता है; रह-रहकर हाथ सिकोड़ लेता है, पर वह खुजली की शिद्दत से परेशान अपनी दाहिनी मुट्ठी से उसकी कलाई थाम लिए फिरती है पीठ की ऊपरी पटरी पर। यह सब देखकर लेखक को लगा कि—"**भगवान जाने, यह खुजली पीठ की थी या मन की।**"[1]

---

1. *सूरदास - राधा राधिका रमण प्रसाद सिंह, राजा राधिका रमण ग्रंथावली, तीसरा खण्ड, श्री राजराजेश्वरी साहित्य मंदिर, पटना-14, अशोक प्रेस, पटना, प्रथम संस्करण-1978, पृ. सं.-73*

धनिया के ससुराल न जाने पर उनका पति बेनीराम खुद उसे लेने धनिया के घर आ धमका। धनिया ने कई बहाने बनाए। बेनीराम भी मानने वाला न था। वह धनिया के घर जम गया। एक रात धनिया चुपके से सूरदास से मिलने मालिक की कोठी पर चली आई। यह देखकर सूरदास ने धनिया को डाँट पिलायी–**"तू उसे छोड़ उठ आई इतनी रात को, जा-जा, सो रह। इसी चाल से न वह गरम रहता है तुझ पर।"**[1]

सूरदास और धनिया के बीच रोचक वार्तालाप होता है। इस वार्तालाप का कुछ अंश इस प्रकार है–सूरदास ने जब धनिया को डाँटा तो उसने जवाब दिया–"जैसे कि हम उसके पैर टीप रही थीं।"

यह सुनो! अगर टीपती ही रही तो इसमें शर्म की बात क्या है?

हुँह! देह तक तो छुआतीं नहीं उस पियक्कड़ से!

"राम राम! यह अधर्म है।"

"रहो भी! हम ऐसे ही आरती नहीं उतारतीं–सच बात है सूरदास! हमारे लिए वहाँ जाना कुछ और नहीं....हम पूछती हैं, एक चुटकी सिन्दूर किसी ने माथे पर रख दिया तो हम बँध गई।"

"दस्तूर तो यही है धनिया।

हठात् धनिया ने एक भीगी आवाज में कहा–सूरदास! एक तुम हो, एक वह...।"

ऐसा न कह घट-घट राम है धनिया! घट घट राम! फिर दो छन मौन।

"सूरदास! तुम क्यों न हुए....."

"क्या धनिया?"–वह भीगे गले से बोला।

"हमारे....।"[2]

और इस छोटे से 'हमारे' पर उभर आई उसके हृदय की तमाम ममता, उसके जीवन की तमाम विफलता। सूरदास ने आह भरते हुए जवाब दिया–"हाँ धनिया! हम भी तो कोई पराया नहीं! जब तू याद करेगी, पानी पड़े या पत्थर, हम लाठी टेकते...।'

---

1. *सूरदास - राधा राधिका रमण प्रसाद सिंह, राजा राधिका रमण ग्रंथावली, तीसरा खण्ड, श्री राजराजेश्वरी साहित्य मंदिर, पटना-14, अशोक प्रेस, पटना, प्रथम संस्करण-1978, पृ. सं.-84*
2. *वही, पृ. सं.-86*

सूरदास के पैर की सुपलियों पर माथा टेक धनिया चुप पड़ी है—और सूरदास रह-रहकर उसके सर पर हाथ फेर रहा है—इस हाथ के संचालन में आशीर्वाद की मुद्रा है, किसी कामना की उद्दीपना नहीं। मौसम भी काम वासना के उद्दीपन में सहायक है। रिमझिम वर्षा हो रही है, ठंडी हवा चल रही है। लेकिन इसका कोई प्रभाव सूरदास पर नहीं है। यदि ऐसा होता तो यह माथा सहलाने वाली ऊँगलियों की लीला कुछ और होती। वह सर पर चक्कर काट कर नहीं रह जातीं, गले की परिक्रमा करतीं और आगे कदम बढ़ातीं। लेकिन सूरदास ने ऐसा कुछ भी नहीं किया। यह उनके नैतिक बल और चरित्र का प्रतिफल है। सूरदास के इस नैतिक बल को देखकर लेखक भी भौचक्के में पड़ गया। यह सारा दृश्य उनकी आँखों तले घटा था। सूरदास और धनिया को लगा कि मालिक इतनी रात को सो रहे होंगे। लेखक को स्वयं अपना व्यक्तित्व ओछा लगने लगा। उनके मुँह से अनायास ही निकल पड़ा—**"सूरदास की गिनती कभी सभ्यों में नहीं होने की। मगर दिखाए तो कोई प्रगतिशील सत्य उस गँवार के बराबर की नैतिक निष्ठा? वह धूल में लुंठित है तो क्या, उसके दामन की तह में एक जलवा छिपा है। हम तो सैक्स को इस जीवन की किल्ली मान उसकी ईश्वरता के ऐसे कायल हैं कि आज अपनी नैतिक संस्कृति की खिल्ली उड़ाने में मसरूफ़ हैं, मगर कहे तो कोई अपनी धरती पर हाथ रखकर कि मनुष्यत्व की श्रेष्ठ अभिव्यंजना अपनी वासना की रास थाम कर चलने में है या उसे ढीली छोड़ने में?"**[1]

इधर सूरदास सुध-बुध खोकर धनिया के माथे अपना हाथ फेर रहा था। मालिक के एक अन्य नौकर भजुआ ने इसे देख लिया। उसने बेतहाशा सूरदास की पीठ पर जूते की ठोकर मारा। प्रथम द्रष्टा तो यह अनैतिक था, लेकिन भजुआ क्या जाने सूरदास की नैतिक शुचिता को। मालिक ने उल्टे भजुआ को ही डाँट पिलायी। भजुआ उस समय तो चुप रहा लेकिन उन्होंने धनिया के पति बेनीराम को कहला भेजा। दूसरे दिन बेनीराम आया और धनिया को बाल खींचते घसीटते ले गया। सूरदास को जब यह पता चला तो वह सब कुछ छोड़छाड़ उसकी तरफ भागा। लेकिन वह उसे पकड़ नहीं पाया। पता नहीं वह धनिया को बेनीराम के चंगुल से

---

1. सूरदास - राधा राधिका रमण प्रसाद सिंह, राजा राधिका रमण ग्रंथावली, तीसरा खण्ड, श्री राजराजेश्वरी साहित्य मंदिर, पटना-14, अशोक प्रेस, पटना, प्रथम संस्करण-1978, पृ. सं.-88

छुड़ाने दौड़ा था या फिर अपनी सफाई देने। यह तो कल्पना करने की बात है। लेकिन अबतक के नैतिक प्रतिमानों के आधार पर कहा जा सकता है कि सूरदास बेनीराम को अपनी सफाई ही देता। कुछ दिनों तक सूरदास की आसपास खोज की गई। कुँए में बाँस डालकर देखा गया। लेकिन उसका कोई पता नहीं मिला। कुछ दिनों के बाद धनिया बेनीराम को चंगुल से छूटकर भाग आयी। उसने भी सूरदास को बहुत खोजा। पूछ-ताछ की पर वह नहीं मिला। इसके बाद धनिया भी कहाँ गायब हो गई। किसी को कोई पता नहीं। संभव है, वह ढूँढ़ते-ढूँढ़ते उस राह पर आ पड़ी हो जिसके आगे कोई राह नहीं—जहाँ ढूँढ़ने वाला खुद ही गुम हो जाता है। किसी शायर ने ठीक ही कहा है—

"बहुत ढूँढ़ा उसे फिर भी न पाया।
अगर पाया, पता अपना न पाया।"

यह तो हुआ सूरदास और धनिया की कहानी का दुखद अंत। लेकिन इस दुखद अंत ने कई सवाल भी खड़े किये हैं। क्या सूरदास के मन में प्रेम का भाव नहीं जगता होगा? क्या व्यक्ति भगवान के शरण में चले जाने के बाद विषय वासनाओं से निर्लिप्त हो जाता है? क्या ऐसा नहीं लगता सूरदास स्वयं को समाज में प्रतिष्ठित करने के लिए जानबूझ कर या बलपूर्वक अपनी विषय वासनाओं पर नियंत्रण करता है? क्या इसे सूरदास की **'लाचारी की ब्रह्मचारी'** नहीं कहा जा सकता है? इत्यादि।

इन सारे प्रश्नों पर तार्किक रूप से और (सहानुभूति पूर्ण नहीं, बल्कि कटु आलोचक की भाँति) विकलांगता को ध्यान में रखकर विश्लेषण करने की आवश्यकता है।

उपन्यास में प्रेम को दो रूपों में व्यक्त किया गया है। पहला रूप है—सांसारिक आकांक्षा की पूर्ति का भाव और दूसरा—आध्यात्मिकता का भाव। पहले भाव की प्रतिनिधि धनिया है और दूसरे का सूरदास। धनिया सूरदास से सिर्फ प्रेम ही नहीं करती बल्कि शादी भी करना चाहती है। यह उनके कथन 'तुम हमारे क्यों नहीं हुए' से स्पष्ट भी होता है। भले ही इसके पीछे असुरक्षा का भाव ही क्यों न हो। भारतीय समाज में विकलांग महिला की स्थिति विकलांग पुरुष की अपेक्षा संकटग्रस्त और असुरक्षित होती है। उसकी इज्जत और आबरू, हमेशा संकट की छाया में होती है। धनिया के साथ भी ऐसी ही स्थिति है। भजुआ एक बार धनिया के साथ

जोर-जबरदस्ती भी करना चाहता है। इसलिए भी धनिया अपनी जीवन की नैया के लिए सूरदास की पतवार का सहारा लेना चाहती है। लेकिन सूरदास सांसारिक प्रेम को भगवत् भक्ति में सबसे बड़ा बाधक मानता है। वह धनिया से आध्यात्मिक स्तर का प्रेम करता है। इसप्रकार धनिया और सूरदास के प्रेम में द्वन्द्व है। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि यह द्वन्द सूरदास में भी है। इसी प्रकार का द्वन्द्व भक्ति काल के प्रमुख कवि कबीर की कविता में भी है। कबीर को प्रायः नारी का कटु आलोचक मान लिया गया है, बिना कबीर की कविता के विशद् और भावपूर्ण अध्ययन के। प्रायः मान लिया गया है कि कबीर नारी के घोर निंदक हैं। इसके पक्ष में कबीर की पंक्ति—नारी की झांई पड़त अंधा होत भुजंग' का प्रायः 'जाप' किया जाता है। कबीर की कविता का विशद् अध्ययन करने पर ऐसा लगता हे कि नारी के प्रति कबीर का प्रेम शारीरिक नहीं बल्कि आध्यात्मिक है। कबीर विषय के ज्ञाता प्रो. पुरुषोत्तम अग्रवाल ने अपनी पुस्तक 'विचार का अनंत' में इसका स्पष्ट उल्लेख किया है। 'बालम आव हमारे गेह रे'.... शीर्षक लेख में उन्होंने लिखा है—**"स्त्री के प्रति आकर्षण को साधक की सबसे बड़ी समस्या मानना, स्त्री के प्रति आकर्षण से साधक को विरत करने के लिए स्त्री मात्र को भयावह और तिरस्करणीय छवि देना, उसकी छाया मात्र से भुजंग के अंधे हो जाने का बयान करना और दूसरी तरफ साधना के गहनतम धरातल पर नारी की बानी बोलने लगना, प्रेम के समूचे प्रसंग को नारी की निगाह से देखने लगना, मिलन की आतुरता और विरह की व्यथा को स्त्री की तरह महसूसना—कबीर की काव्य संवेदना की यह फाँक गौरतलब है।"**[1]

ऐसी ही संवेदनात्मक फाँक सूरदास के चरित्र में भी है। वह धनिया के सांसारिक प्रेम को नहीं मानता लेकिन वह उससे आध्यात्मिक स्तर पर प्रेम करता है। उन्हें भक्ति है राम से इसलिए धनिया से नेह नहीं लगाता, लेकिन जहाँ कर्त्तव्य आता है वह उसे मदद करने में चूकता भी नहीं। एक प्रेमिका का प्रेमी के स्पर्श में और सूरदास का धनिया के स्पर्श में अंतर है। धनिया प्रेम याचना में जब असफल हो जाती है और अंत में सूरदास के चरणों पर गिर पड़ती

---

1. विचार का अनंत - प्रो. पुरुषोत्तम अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण- 2000, पृ. सं.-162

है, तो सूरदास प्यार से धनिया का सर सहलाता है। आधी रात का समय है। मालिक सो रहे हैं। मंद हवा बह रही है। काम-वासना को उद्वेलित करने में सहायक रिमझिम बारिश भी हो रही है। ऐसी स्थिति में सूरदास का नैतिक बल देखने लायक है। वह धनिया का सिर्फ सर ही सहलाता है। सूरदास का प्यार यदि नैतिक और आध्यात्मिक नहीं होता तो उसके हाथ की दिशा और हरकत कुछ अलग होती।

वह सूरदास जो स्त्री स्पर्श को ही अनैतिक और भगवत् भक्ति से विमुख हो जाना मानता था वही आज स्त्री के सर पर हाथ फेर रहा है। लेकिन यही 'हाथ फेरना' उसे वास्तविकता प्यार से साक्षात्कार भी कराता है। उन्हें मालूम होता है कि नारी से घृणा करना मानवता और जीवन को नकारना है, नारी देह से नहीं लेकिन नारी मन से प्रेम तो किया ही जा सकता है। सूरदास को यह ज्ञान धनिया से आध्यात्मिक स्तर पर प्रेम करने से ही पता चलता है। कबीर के साथ भी ऐसी ही बात है। 'बालम आव हमारे गेह रे...' में वह स्वयं नारी (हरि की बहुरिया) बन जाते हैं। प्रो. पुरुषोत्तम अग्रवाल ने ठीक ही लिखा है–"**कबीर की काव्य संवेदना में नारी के प्रश्न पर सर्जनात्मक फाँक इसीलिए है कि दूसरों को चेतावनी देने वाले, साधना की विधि बताने वाले कबीर जो बात साधिका से नहीं सीख पाते, प्रेम में गहरे बूड़ने वाले कबीर सीख जाते हैं।**"[1]

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि सूरदास के प्रेम में संवेदनात्मक फाँक है। सूरदास के व्यक्तित्व को भौतिक धरातल पर जाँचने और परखने की भी जरूरत है। क्या वास्तव में सूरदास ने काम-वासना पर विजय प्राप्त कर ली थी? क्या उनके मन में काम भावना नहीं उठती होगी? अधिकांश विकलांग जन घर परिवार सेंकट कर भगवान की शरण में क्यों चले जाते हैं? विकलांगों के लिए धार्मिक रूप 'सोशल आइडेन्टीफिकेशन' का माध्यम नहीं है? क्या सूरदास के ब्रह्मचर्य को 'लाचारी की ब्रह्मचारी' कहना उचित होगा? इत्यादि।

आखिर सूरदास धर्म की ही शरण क्यों लेता है? इसका सीधा सा जवाब है–'सोशल एलिनेशन' विकलांग (खासकर ग्रामीण क्षेत्र के) समाज की मुख्यधारा में शामिल नहीं हो पाता। वह अपने स्तर से प्रयास तो करता है, लेकिन असफल हो जाता है। घर और परिवार की

---

1. *विचार का अनंत - प्रो. पुरुषोत्तम अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण- 2000, पृ. सं.-169*

छत्रछाया भी अधिक दिनों तक साथ नहीं देती। ऐसी प्रतिकूल परिस्थिति में धर्म या धार्मिक स्थल ही उसका वास स्थान बन जाता है। समाज में उखड़ और उजड़कर वह मंदिर का ही शरण लेना पसंद करता है। इसलिए भी कि यहाँ दाता दानी के प्रसाद से पेट भी भरता रहेगा और भगवान का भजन भी होता रहेगा। लेकिन समाज की उपेक्षा उनके मन में टीस बनकर सालती रहती है। वह स्वयं को साबित करना चाहता है। इसके लिए समाज के सारे दरवाजे बंद पाता है। इसलिए वह स्वयं को मारना प्रारंभ करता है। अपनी विकलांगता के बरक्स वह कुछ इस तरह का नैतिक प्रतिमान स्थापित करना चाहता है, जिससे उसे भी समाज में 'पहचान' (Identify/ Recognition) मिल सके। सामाजिक सम्मान की प्यास सभी में होती है, चाहे वह विकलांग हो या गैर विकलांग। लेकिन विकलांगों के पास नैतिक प्रतिमान तथा चारित्रिक शुचिता स्थापित करने के अलावा दूसरा कोई विकल्प नहीं होता। इसलिए वह इसे इतना मजबूत और किलानुमा बना लेना चाहता है कि समाज स्वतः इनकी ओर आकृष्ट हो जाए। वह अपनी काम-वासना का दमन करता है, अपनी इच्छाओं पर कुठाराघात करता है, स्वयं को शोधता है ताकि वह समाज में नैतिक तथा चारित्रिक प्रतिमान के रूप में जाना जा सके।

सूरदास भी कहीं-न-कहीं इस विवशता का शिकार था। क्या यह संभव हो सकता है कि कोई व्यक्ति अपनी यौवनावस्था में कामाग्नि से पीड़ित न होता हो। उनके मन में स्त्री संसर्ग की इच्छा नहीं जागती हो। क्या सूरदास के मन में इस तरह का विचार नहीं उठता होगा? विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि उनके मन में भी काम वासना का भाव जागता होगा। क्योंकि यह मानव प्रजाति का नैसर्गिक गुण है। इससे कोई वंचित नहीं रह सकता। हाँ, योग, ध्यान, चारित्रिक बल तथा संगम से इसे थोड़ा साधा जा सकता है, या फिर विषय-वासनाओं को अपने मन से हटाया जा सकता है। बड़े-बड़े ऋषि, मुनि तथा साधुओं (आज के आधुनिक साधू नहीं) ने इसीलिए गुफाओं तथा कंदराओं की शरण ले रखी थी; ताकि सांसारिकता से स्वयं को दूर रखा जा सके। गौरतलब है कि ये साधुगण स्वेच्छा से ऐसा करते थे या करते हैं जबकि सूरदास विवशता से ऐसा करता है। इसके पीछे 'व्यक्तिगत पहचान' (Personal Identity) का भाव रहता है। निक वाटसन (Nick Watson) एडिन बर्ग विश्वविद्यालय के 'डिपार्टमेंट ऑफ नर्सिंग स्टडीज' में प्रोफेसर हैं। उन्होंने अपने लेख—'बट आइ डोन्ट सी माइसेल्फ एज ए

डिसेब्ल्ड पर्सनआइडेनटिटी एण्ड डिसएबलिटी' में इस विषय पर विस्तार से चर्चा किया है। उन्होंने लिखा है–"**व्यक्तिगत पहचान जैसा टर्म सामाजिक अध्ययन' की मुख्यधारा और विकलांगता अध्ययन के बीच' विवाद का मुख्य मुद्दा है। व्यक्तिगत पहचान जैसे टर्म का उत्तर इस तरह से नहीं दिया जा सकता कि मैं कौन हूँ, बल्कि इस तरह से देना बेहतर होगा कि मैं परिवार तथा समाज में कहाँ से बोलता हूँ। समाज के भूगोल और सामाजिक संरचना में मैं क्या स्थान रखता हूँ? इसप्रकार 'सेल्फ' एक संघर्ष बन जाता है। यही 'सेल्फ' आत्मनिष्ठा तथा स्वशासन (Autonomy) के भाव को जन्म देता है।**"[1]

सूरदास अपने जीवन को स्वशासित करता है, अपनी कामगत भावनाओं का मार कर। वैसे उपवास रखना भी स्वशासन की श्रेणी में आता है। उपवास या व्रत रखना स्वयं की इच्छा पर निर्भर करता है। हम चाहें तो इसका पालन कर सकते हैं और नहीं भी। लेकिन सूरदास समाज में प्रतिष्ठा तथा सम्मान पाने के लिए ऐसा करता है।

इस प्रकार उपन्यास में एक नेत्रहीन विकलांग द्वारा नैतिक तथा चारित्रिक प्रतिमान स्थापित किया गया है। उसने आध्यात्मिक प्रेम में पड़कर विषय वासनाग्रस्त प्रेम पर विजय पायी हैं। प्रायः समाज में ऐसी धारण बन गई है कि विकलांग अपनी कामगत पीड़ा से 'फ्रस्ट्रेट' होता है। वह नैतिक मूल्यों तथा प्रतिमानों की अवहेलना करता है। सूरदास का चारित्रिक बल इस धारणा को तोड़ता है, लेकिन स्वयं को मार कर, स्वयं को शोध कर।

---

iv. Disability Handicape & Society, Volume 3, No. 2 1988, Editor-Len Bartor, Department of Education, Bristol polytecnic, p-511

मैला आँचल

भारत सरकार द्वारा प्रयुक्त विकलांगता की परिभाषा के अंतर्गत बौना व्यक्ति इसके दायरे में नहीं आता है। यह तदर्थ भारत सरकार और मानवाधिकार आयोग की ख़ामी है। सच्चाई तो यह है कि बौना भी समाज में उपेक्षित पात्र है। आदमी क्या कुत्ते भी इन्हें छेड़ते हैं। सर्कस में बौने व्यक्ति को इसलिए रखा जाता है, क्योंकि वह अपने करतबों को दिखाकर दर्शकों का मनोरंजन कराते रहे और स्वयं हँसी और उपहास का पात्र बना रहे।

फणीश्वरनाथ 'रेणु' का उपन्यास 'मैला आँचल' में एक बौना पात्र है—बामनदास। 'मैला आँचल' दो भागों में विभाजित है। पहले भाग में स्वतंत्रता संग्राम का जीवंत चित्रण है, तथा दूसरे भाग में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारतीय जनमानस की अपेक्षाएँ तथा राजनीतिक जोड़-तोड़ का चित्रण। इसी पृष्ठभूमि में बामनदास का भी चित्रण है। उपन्यास में बामनदास का प्रवेश एक सामान्य पात्र की तरह नहीं होता। अपनी ईमानदारी, सिद्धांतवादिता और आदर्शवादिता के बावजूद उसे समाज में उपहास का पात्र बनना पड़ता है। रेणु जी ने बामनदास का परिचय इस प्रकार करवाया है—"**पूर्वजन्म का फल अथवा थाइराइड, थायमस और प्युटिटिरी ग्लैड्स के हेर-फेर। डेढ़ हाथ की ऊँचाई। सांवला रंग, मोटे होंठ, अचरज में डाल देने वाली दाढ़ी और चौका देनेवाली मोटी भौड़ी आवाज। ऊँचाई के हिसाब से आवाज दस गुना भारी। अजीब चाल मानो लुढ़क रहा हो। अज्ञात कुलशील। जन्मजात साधू। जिस ओर गुजरता, लोगों की निगाहें बरबस अटक जातीं। फिर ताज्जुब की हँसी-मुस्कराहट। पीछे-पीछे बच्चों का हुजूम, तमाशा, कुत्ते भूँकते, इंसान हँसते। गर्भवती महिलाएँ छिप जातीं अथवा छिपा दी जातीं।...और जब भगवान ने उसे**

चलता-फिरता तमाशा ही बनाकर भेजा है, लोग उसे देखकर खुश हो लेते हैं, तो क्यों न वह पारिश्रमिक मांग ले।....दे-दे भैया कुछ खाने को! भगवान भला करेंगे। सेताराम, सेताराम!"[1]

यह हुआ बामनदास का संक्षिप्त और एक सामान्य सा परिचय। उपन्यास में बामनदास का प्रवेश भी उपहासात्मक स्थिति में होता है। लोग उनकी योग्यता और क्षमता पर कम उनकी शारीरिक संरचना पर अधिक ध्यान देते हैं। संदर्भ है—पूर्णिया में अंग्रेजों के खिलाफ जुलूस का आयोजन। बालदेव, कालीचरण, शिवनाथ चौधरी, डा. गांगुली सभी इस जुलूस में शिरकत करने आये हैं। मंच पर बैठे वामन दास पर लोगों की नजर अचानक पड़ती है। सभी आश्चर्यचकित और कुतूहल वश कह उठते हैं—**"अरे, वह कौन है? बौना? डेढ़ हाथ का आदमी। देखने में चार साल के लड़के जैसा लगता है। दाढ़ी-मूँछ देखो। बोली कितनी भारी है।"**[2]

यह उपहास और कुतूहल सामान्य जनता का है, जिनके पास न तो ज्यादा बौद्धिकता होती है और न सकारात्मक सोच। इनकी स्थिति एक भावुक व्यक्ति की तरह होती है। अगर उनकी आस्था और सोच को जागृत कर दिया जाए तो वह वामनदास क्या पत्थर को भी पूजने के लिए तैयार हो जाये। यह उनकी गलती नहीं है, बल्कि उस सामाजिक संरचना और समाज को दिशा निर्देशित करने वालों की गलती या उज्जड़ मानसिकता है, जिससे वह सीखती है और ऐसा व्यवहार करने के लिए बाध्य होती है। जब पढ़े-लिखे लोग जिन्हें बौद्धिक कहा जाता है, की सोच में आमूल-चूल बदलाव नहीं आता, तो जन सामान्य से साकारात्मक सोच और व्यवहार की अपेक्षा रखना अव्यावहारिक होगा।

इस तरह के कई उदाहरण उपन्यास में खोजे जा सकते हैं। एक अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है। मंदिर के कोठारिन लक्ष्मी के साथ बालदेव की बातचीत हो रही है। बालदेव को चिंता हो रही है कि कालीचरण कांग्रेस के मेंबरों को फोड़कर सोशिलस्ट पार्टी में मिला रहा है। कांग्रेस कार्यकर्त्ताओं में नई जान फूँकने के लिए चरखा सेंटर स्थापित किया जाना है। बालदेव

---

1. *मैला आँचल, फणीश्वरनाथ रेणु, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1954, सातवीं आवृत्ति, 2001, पृ. सं.-129*
2. *वही, पृ. सं.-88*

कोठारिन को बता रहा है कि बाहर से सिवनाथ बाबू आ रहे हैं—चरखा सेंटर के उद्घाटन के लिए। आगे वह कहता है—"**एक पुराना काजकर्ता बामनदास भी आ रहा है। पुराना तो नहीं है, मेरे ही साथ सुराजी में नाम लिखाया था।...बामन दास बौना है, सिरफ डेढ़ हाथ ऊँचा।**"[1]

गौर करने की बात है, बालदेव सिवनाथ के नाम के साथ सम्मानसूचक प्रत्यय 'बाबू' का प्रयोग करता है, जबकि बामनदास का परिचय उनकी प्राकृतिक तथा शारीरिक अवस्था से कराया जाता है।

अपमान और उपहास की यह शृंखला यहीं खत्म नहीं होती। यह उपेक्षा और उपहास प्रतीक बनकर आती है। प्रसंग है—1942 के आंदोलन में पूर्णिया कचहरी पर तिरंगा झंडा फहराने का। अंग्रेज मिलिटरी का चाक चौबंद घेरा है, आंदोलनकारियों को झंडा फहराने से रोकने के लिए। लेकिन झंडा फहराना भी आवश्यक है। रेणु जी ने लिखा है—"**बौनादास एक मलेटरी के फैले हुए पैर के बीच से उस पार चला गया और कचहरी के हाता में झंडा फहरा दिया....रमैन में हनुमान जी ने सुरसा को मसक रूप धरकर जिस तरह छकाया था, उसी तरह।**"[2]

उपर्युक्त उदाहरण में, प्रथम दृष्टया लगता है कि बामनदास ने बहादुरी का कार्य किया है। सच में बहादुरी भरा कार्य है भी, लेकिन उसके लिए जिन प्रतीकों का चुनाव किया गया है वह बेहद अमानवीय है। बौनादास मिलिटरी के फैले पैर के बीच से निकलकर ही झंडा फहरा सकता है। वह एक आम कार्यकर्ता की भांति कचहरी पर झंडा नहीं फहरा सकता। यही विकलांगों की सीमा भी है और सामर्थ्य भी। विकलांगता उनका हर जगह पीछा करती है।

कथाकार रेणु जी ने बामनदास के लिए 'बौनादास' शब्द का प्रयोग किया है। भारत जैसे महान 'प्रगतिशील' समाज में विकलांगों के नाम उनकी शारीरिक स्थिति के अनुसार ही दिये जाते हैं। दृष्टिहीनों के लिए 'सूरदास' पेटेंट उपाधि है, तो अस्थि विकलांगों के लिए लंगडदास।

---

1. *मैला आँचल, फणीश्वरनाथ रेणु, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1954, सातवीं आवृत्ति, 2001, पृ. सं.-116-117*
2. *वही, पृ. सं.-118-119*

अगर कोई बौना है तो बौनादास। 'दास' यानी गुलामी कहीं पीछा नहीं छोड़ता। आज भी ग्रामीण क्षेत्रों में इस तरह के नाम सुनने मिल जाते हैं। घर परिवार में यदि दूसरा नाम दे भी दिया गया लेकिन समाज उन्हें ऐसे ही नामों से पुकारता है। आखिर विकलांगों को भी इसी समाज में रहना है, घर की चहारदीवारी में नहीं। इसलिए ऐसे नाम प्रचलित हो जाते हैं और वे ऐसे ही नामगत विशेषणों से जाने जाते हैं।

फणीश्वर नाथ रेणु ने अगर ऐसी गलती की तो इसमें बुरा क्या है? आखिर वे भी इसी प्रगतिशील समाज के अंग हैं। लेकिन इस संदर्भ में वे भी एक जनसामान्य स्तरीय सोच रखने वाले ही कहे जायेंगे, समानधर्मी प्रगतिशील कथाकार नहीं।

बामनदास का अपमान जवाहरलाल नेहरू भी करने में नहीं चूकते। भले उनका अपमान करने का तरीका उच्च स्तरीय ही क्यों न हो। संदर्भ है 1937 का नेहरू का तूफानी चुनावी दौरा। रेणु जी ने लिखा है—बामनदास को देखकर ताज्जुब की मुद्रा बनाकर कुछ देर तक देखते ही रह गए। फिर ललाट पर बल और नाक पर अंगुली डालते हुए, गाँगुली जी से अंग्रेजी में बोले—**"आई रिमेंबर दि नेम ऑफ दैट बुक" 'किंग ऑफ दि गोल्डन रिवर' गाँगुली ने छूटते ही जवाब दिया, फिर दोनों एक ही साथ हँस पड़े।"**[1]

यह कितना बड़ा अपमान है, इसे एक विकलांग ही समझ सकता है। बामनदास भाषण देने उठता है। माइक स्टेण्ड काफी ऊँचा है। ऑपरेटर हैरान है। जल्दी बाजी में वह क्या करे? कभी ऊँचा कभी नीचा करता है फिर भी बामनदास से काफी ऊँचा है—माइक स्टैंड। नेहरू जी बड़ी फुर्ती से उठकर जाते हैं, माइक खोलकर हाथ में ले लेते हैं। झुककर बामनदास के मुँह के पास ले जाते हैं, "बोलिए!" जनता हँसती है। बामनदास जरा घबरा जाते हैं।

जब नेहरू ही पहले उनके बौनेपन पर हँस चुके हैं, तो जनता का तो यह अधिकार बनता है। आखिर बड़े लोगों का अनुसरण तो लोग करते ही हैं, भले ही बुरे कार्यों के लिए।

यह तो हुआ बामनदास के जीवन का एक पक्ष। कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष की तरह उनके जीवन के भी दो पक्ष हैं। कृष्ण पक्ष का संक्षिप्त परिचय उपर्युक्त उद्धरणों में हो चुका है। एक

---

1. *मैला आँचल, फणीश्वरनाथ रेणु, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1954, सातवीं आवृत्ति, 2001, पृ. सं.-131*

तरफ जीवटता, ईमानदारी, सिद्धांत और आदर्श हैं तो दूसरी तरफ मूलधन के रूप में सामाजिक उपहास। यही है बामनदास के जीवन का दो किनारे।

बामनदास अपने जीवन के शुक्ल पक्ष के निर्माता स्वयं हैं। उन्हें सम्मान तथा इज्जत विरासत में नहीं मिली है। यदा-कदा उन्हें सम्मान मिलता है। उन्हें बामन का अवतार मान लिया गया। मिथकों में उल्लिखित है कि भगवान विष्णु के दस अवतारों में एक 'बामन' (बौना) भी है। भगवान का बौना होना और जनसामान्य के बौना होने में अंतर है। महिलाएँ बामनदास से विशेष सहानुभूति रखती हैं। उन्हें बामन 'भगवान' कहकर पुकारती हैं। कांग्रेस की कार्यकर्ता आभारानी ने तो उन्हें 'भगवान' छोड़कर किसी दूसरे नाम से कभी पुकारा ही नहीं। एक बार आंदोलन में आभारानी और बामनदास गिरफ्तार हो गए। पुलिस चाहती थी कि बामनदास को एकाध डंडा लगाकर भगा दें; पर पहले दी डंडे की चोट को आभारानी ने झपट कर अपने शरीर पर ले लिया। यह देखकर पुलिस के पाँव के नीचे की मिटटी खिसक गई। "आमार भगवान को मारो ना....।" खून से लथपथ खादी की सफेद साड़ी। पत्थर को भी पिघला देने वाली करुणा से भरी बोली—**"आमार भगवान'! बामन के पूर्वजन्म के सारे पाप मानो अचानक ही पुण्य में बदल गए। सूखे ठूँठ में नई कोंपल लग गई। उसके मुँह से मोटी आवाज निकली थी—'माँ!'**[1]

महात्मा गाँधी बामनदास को हमेशा सम्मान देते थे। 1934 में भूकंप-पीड़ित क्षेत्रों के दौरे पर जब बापू पूर्णिया आए थे। उनके साथ रामकिसुन [illegible] आभारानी और बामनदास थे। बामनदास के बिना आभारानी एक डग भी कहीं नहीं जा सकतीं। गाँधी जी हँसकर बोले थे—**"माँ तुम्हारे भगवान से ईर्ष्या होती है।....दंतहीन पोपले मुँह की वह पवित्र हँसी, बच्चों की हँसी जैसी।"**[2] बामनदास पर गाँधी का प्रभाव है। जैसे पूरा कांग्रेस कार्यकर्ता गाँधी के व्यक्तित्व और कृतित्व से प्रभावित हैं। बालदेव भी अहिंसावाद की रट लगाये रहता है। लेकिन बामनदास मन, कर्म और वचन से गाँधीवादी हैं। बामनदास के व्यक्तित्व और चरित्र

---

1. *मैला आँचल, फणीश्वरनाथ रेणु, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1954, सातवीं आवृत्ति, 2001, पृ. सं.-132*
2. *वही, पृ. सं.-132*

का यह तीसरा पक्ष है, जहाँ वे उपन्यास के अन्य पात्रों से अलग अपना व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं।

'मैला आँचल' उस दौर का उपन्यास है, जब भारत स्वतंत्र हो चुका था। भारतीय जनता में व्यवस्था परिवर्तन की गहरी आकांक्षा थी। 'जो जोतेगा, वह काटेगा, जो काटेगा वह बाँटेगा' का सपना लिए भारतीय जनमानस भारतीय नेताओं की ओर आशा भरी निगाहों से देख रही थी। लेकिन यह सपना सपना ही बनकर रह गया। स्वतंत्रता संग्राम के अधिकांश नेता अपनी जमींदारी बचाने के लिए रातों रात कांग्रेस के नेता बन गये। जमींदारी व्यवस्था ने प्रचंड रूप से भारतीय समाज को जकड़ लिया। जो नेता भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में नैतिकता, सिद्धांत और ईमानदारी की बात करते थे, वही किसानों तथा मजदूरों के शोषक बन गये। कथनी और करनी में घोर विषमता व्याप्त हो गई। गाँधी जी ने जिस समाज की कल्पना की थी, उसका दूर-दूर तक नामोनिशान नहीं था। इन्हीं प्रतिकूल परिस्थितियों में रेणु जी ने बामनदास का चित्रण किया है। वह गाँधी जी के सत्य, अहिंसा, ईमानदारी और समतामूलक समाज निर्माण से गहरे रूप में प्रभावित था। बौना (विकलांग) होते हुए भी वे कांग्रेस कार्यकर्त्ताओं में एक ईमानदारी और नैतिक मूल्यों के कर्णधार के रूप में उभरते हैं। उन्हें लगता है कि जिस भारतमाता की स्वतंत्रता के लिए लोगों ने अपना प्राण न्यौछावर किया वह भारतमाता आज जार-जार रो रही है। इसका कारण वे कांग्रेस पार्टी की अराजकता को मानते हैं। वह बालदेव से कहता है—**"लेकिन भारतमाता अब भी रो रही हैं बालदेव। बिलैती कपड़ा के पिकेंटिंग के जमाने में चानमल-सागरमल गोला पर पिकेंटिंग के दिन क्या हुआ था सो याद है, तुमको बालदेव। चानमल मड़बाड़ी के बेटा सागरमल ने अपने हाथों सभी भोलटियरों को पीटा था, जेहल में भोलटियरों को रखने के लिए सरकार को पैसा दिया था। वही सागरमल आज नरपत नगर थाना कांग्रेस का सभापित है। और सुनोगे?....दुलार चंद कापरा को जानते हो न? वही जुआ कंपनी वाला, एक बार नेपाली लड़कियों को भगाकर लाते समय जो जोगवानी में पकड़ा गया था, वह कटहा थाना का सिकरेटरी है...भारत माता और भी जार-बेजार रो रही हैं।"**[1]

1. *मैला आँचल, फणीश्वरनाथ रेणु, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1954, सातवीं आवृत्ति, 2001, पृ. सं.-128*

बामनदास को इससे घोर असंतोष है। घोर अहिंसावादी नेता बालदेव भी इसका संतोषपरक जवाब नहीं देता। वह देखता है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद की कांग्रेस और स्वतंत्रताप्राप्ति के पूर्व की कांग्रेस में आसमान जमीन का अंतर आ गया है। चोरों तथा उचक्कों को पद देकर सम्मानित किया जा रहा है। सत्य-असत्य में कोई भेद नहीं रह गया। नैतिकता, चारित्रिक शुचिता का लोप हो गया है। बामनदास से भी एक-दो बार गलती हुई थी। एक बार की घटना है। रामकिसुन बाबू सिमरबनी में मुठिया में वसूले चावल को बेचकर रुपया लाने के लिए बामनदास को बोला था। सिमराहा स्टेशन बाजार में जगमोहन साह की दुकान पर गरम-गरम जलेबी देखकर वामनदास अपनी जिह्वा पर नियंत्रण नहीं कर पाते हैं और पार्टी के पैसे से दो आना का जलेबी खरीद कर खा लेते है। अचानक उन्हें जब ज्ञान होता है, तो वह फूट-फूट कर रोने लगता है। गाँधी बाबा के नाम पर दिये गरीबों के चावल के साथ उन्होंने न्याय नहीं किया। बामनदास को यह एहसास होता है। फिर क्या, गाँधी का भक्त बामनदास गाँधीवादी रूप में आत्मशुद्धि और प्रायश्चित के लिए दो दिनों का उपवास करता है। इसी तरह की एक अन्य घटना है। नमक कानून तोड़ने के समय श्रीमती तारावती देवी पटना से आई थीं। उनकी बोली में जादू था। अंग्रेज प्रशासन भी उनकी एक आवाज से डरता था। एक दिन चंदनपट्टी आश्रम में, दोपहर को तारावती जी बिछावन पर आराम कर रही थीं। सामने के दरवाजे पर पर्दा पड़ा हुआ था और पर्दे के इस पार ड्यूटी पर बामनदास। फागुन की दोपहरी थी। मादकता का मौसम। बामनदास पर्दे के हिलते-डुलते फाँक से झाँक कर देखा तो उनकी काम वासना जाग उठी। वह देखता है—पलँग पर अलसाई सोई जवान औरत, बिखरे हुए घुँघराले बाल, छाती पर से सरकी हुई साड़ी, खद्दर की खुली अंगिया। इस दृश्य को देखकर बामनदास का पैर थरथराने लगा। उन्हें लगा इस औरत के कपड़े को फाड़कर चिथी-चिथी कर दें और अपनी वासना की भूख को मिटा लें। अचानक उनकी नजर दीवार पर लगी गाँधी जी की तस्वीर पर पड़ती है। **"बापू हँस रहे हैं, शायद मुझ पर। वह चीखने लगता है। वह धरती पर गिर जाता है और छटपटाने लगता है।"**[1]

फिर क्या सात दिनों का उपवास व्रत, आत्मशुद्धि, इंद्रिय शुद्धि और प्रायश्चित के लिए।

1. *मैला आँचल, फणीश्वरनाथ रेणु, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1954, सातवीं आवृत्ति, 2001, पृ. सं.-133*

यह है बामनदास का चरित्र उनका यही चारित्रिक बल उन्हें जहाँ एक ओर गाँधी के चरित्र से जोड़ती है वहीं दूसरी ओर उपन्यास के अन्य कार्यकत्ताओं के चरित्र से अलग भी करती है। वह राजनीति ही नहीं लोक-व्यवहार और जीवन में चारित्रिक पवित्रता पर बल देता है। यह गाँधीवादी दर्शन है, जिसमें मन, कर्म और वचन की शुद्धता पर बल दिया जाता है। यदि व्यक्ति स्वयं मन, कर्म और वचन से समाज के प्रति शुद्ध व्यवहार करने लगे तो समाज में अराजकता रहेगी ही नहीं। बापू का यही गुरु मंत्र था जिसका पालन बामनदास अक्षरशः करता है। उनका कांग्रेस कार्यकर्त्ताओं से मोहभंग तब होता है जब वह अपनी कांग्रेस पार्टी के कार्यकर्त्ता दुलार चंद कापरा को ब्लैक का माल सीमा पार भेजते पकड़ लेता है। वह हारता नहीं, बल्कि इस अनैतिक तथा राष्ट्र विरोधी कार्य को रोकना चाहता है। वह रात में सीमा के पास जाता है। उनका गाँधीवार्द और राष्ट्र प्रेम जाग जाता है। इस अनैतिक कृत्य को देखने से अच्छा वह मर जाना पसंद करता है। वह दुलारचंद कापरा को चुनौती भरे शब्दों में कहता है–"**आइए, सामने पास कराइए गाड़ी, आप भी कांग्रेस के मेंबर हैं और हम भी। खाता खुला है अपना-अपना हिसाब-किताब लिखाइए। आज के इस पावन दिन को हम कलंक नहीं लगने देंगे।**"[1]

बामनदास ब्लैंकिंग के सामानों से लदी बैलगाड़ी को रोकना चाहता है। दुलारचंद कापरा पहले तो बामनदास को रास्ते से हट जाने को कहता है। बामनदास अपने सत्य, न्याय और ईमान पर अड़ा रहता है। अंततः बामनदास पर बैलगाड़ी चढ़ा दी जाती है। बामनदास का चिथड़ा-चिथड़ा उड़ जाता है। सुबह भारत की सेना बामनदास को पहचान लेती है। वह लाश को चुपके से पाकिस्तान की सीमा में (नागर नदी के पार) फेंक देती है। दूसरे दिन पाकिस्तान की पुलिस लाश को नदी में बहा देती है और बामनदास की झोली को दरख्त में लटका देती है। बामनदास आदमी से चेथरिया पीर हो जाता है। आदमी से वह देवता बन जाता है। वास्तव में सत्य, न्याय और सर्वधर्म समभाव की लड़ाई लड़ने वालों की स्थिति ऐसी ही होती है। महात्मा गाँधी की भी हत्या इसी कारण हुई है। ऐसे लोगों को स्वर्ग में ही रखना अच्छा है, उपन्यासकार रेणु ने दिखलाया है कि बामनदास की मौत के साथ ही कांग्रेस की मौत हो गई।

---

1. *मैला आँचल, फणीश्वरनाथ रेणु, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1954, सातवीं आवृत्ति, 2001, पृ. सं.-297*

इसके बाद जो कांग्रेस बची वह जमींदारों, पूँजीपतियों की पार्टी बनकर रह गई। इससे रू-ब-रू होकर रेणु जी ने बामनदास को नैतिकता तथा ईमानदारी की प्रतिमूर्ति बनाकर दूसरे गाँधी के रूप में प्रस्तुत किया। डा. नरेन्द्र मोहन ने भी 'आधुनिक हिन्दी उपन्यास' पुस्तक में लिखा है—**"इन सारी चीजों के बीच बामन-दास गाँव की अपूर्व निष्ठा, त्याग और ईमानदारी को लेकर अपना बलिदान देता है और राजनीति को एक उच्च मूल्य प्रदान करता है, लेकिन विडंबना या सामाजिक विसंगति के परिप्रेक्ष में जोड़ कर लेखक इस घटना को भी एक अजब दर्द से भर देता है। बामनदास की झोली का फीता चिथरिया पीर को चढ़ाया गया चिथड़ा मान लिया जाता है और फिर चिथड़े ही चिथड़े....।"**[1]

बामनदास के चरित्र का मूल्यांकन विकलांगता की दृष्टि से भी किया जाना चाहिए। बामनदास जिसकी समाज में पहले उपेक्षा की जाती है, उनके बौनेपन पर हँसा जाता है, बाद में राजनीति की उस उच्च मर्यादा और प्रतिमान को स्थापित करता है, जिस पर आज के नेतागण बात करना भी मुनासिब नहीं समझते।

---

1. *आधुनिक हिन्दी उपन्यास-संपादक-डा. नरेन्द्र मोहन, मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1975, पृ. सं.-140-141*

रागदरबारी / श्री लाल शुक्ल

यह उपन्यास उस समय लिखा गया था जब भारत स्वतंत्र हो चुका था। इस समय तक गाँव में पंचायती राज कायम हो चुका था। डाकखाना तथा अन्य सरकारी योजनाओं का प्रवेश गाँवों में भी हो गया था। लेकिन इन योजनाओं का गाँव के कुछ दबंग तथा प्रभावशाली व्यक्ति किस प्रकार बंदरबांट करते हैं; 'राग-दरबारी' इसका जीवंत उदाहरण है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद देश की गरीब जनता ने व्यवस्था में परिवर्तन की सपना देखा था; लेकिन दुर्भाग्य वश समाज में आमूल-चूल परिवर्तन नहीं आ पाता है। व्यवस्था परिवर्तन के नाम पर सिर्फ अंग्रेजी शासन की जगह प्रजातांत्रिक व्यवस्था कायम हो पायी थी। बाकी चीजें जैसी की तैसी बनी रही। प्रजातंत्र हाथी दाँत की तरह बन कर हर गया। यही उपन्यास की पृष्ठभूमि है।

उपन्यास में शिवपालगंज गाँव का चित्रण है। गाँव के दबंग वैद्य जी ने सरकारी योजनाओं पर किस प्रकार कुंडली मार रखी है, उपन्यास इसका जीवंत उदाहरण है। एक लंबे आंदोलन और संघर्ष के बाद भारतीय जनता को प्रजातंत्र नसीब हुआ था, जो वैद्य जी जैसे लोगों के हाथों कठपुतली बनकर रह गया। उपन्यासकार श्रीलाल शुक्ल वैद्य जी की ओर संकेत करते हुए लिखा है—"प्रजातंत्र उनके तख्त के पास जमीन पर पंजों के बल बैठा है। उसने हाथ जोड़ रखे हैं। उसकी शक्ल हलवाहों जैसी है। वैद्य जी उसे बार-बार तख्त पर बैठने के लिए कहते हैं और समझाते हैं कि तुम गरीब हो तो क्या हुआ, हो तो हमारे रिश्तेदार ही, पर प्रजातंत्र उन्हें बार-बार हुजूर और सरकार पुकारता है। आगे उपन्यासकार ने बड़े ही व्यंग्यात्मक तरीके से प्रजातंत्र के मुँह से कहलवाया है—**"मेरे कपड़े फट गये, मैं नंगा हो रहा हूँ। इस हालत में मुझे किसी के सामने निकलते हुए शर्म लगती है। इसलिए वैद्य महाराज मुझे एक साफ-सुथरी धोती दे दो।"**[1]

---

1. *राग-दरबारी, श्रीलाल शुक्ल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 1984, पृ. 176*

लंगड़ (विकलांग) पात्र का सृजन उपन्यासकार ने इन्हीं परिस्थितियों में किया है। विकलांग समाज में उपहास का पात्र होता है। लोगों (अधिकांश) का दृष्टिकोण और व्यवहार दया तथा सहानुभूति भरा होता है। कोई भी उसे गाली दे सकता है। उसमें उपहास सहने का असीम साहस और धैर्य होता है। श्रीलाल शुक्ल ने इस उपेक्षित पात्र लंगड़ में आदर्श और सिद्धांत को कूट-कूट कर भर दिया है। लंगड़, आदर्श के लिए मर मिट सकता है लेकिन हार मानना पसंद नहीं करता। श्री शुक्ल ने लंगड़ की इस जीवटता को ईमानदारी, कर्त्तव्यपरायणता और आदर्श में ढालकर उसका गाँधीवादी रूप में चित्रित किया है। उन्होंने लंगड़ का परिचय इस प्रकार करवाया है–**"लंगड यहाँ से पाँच कोस दूर एक गाँव का रहने वाला है। बीबी मर चुकी है। लड़कों से यह नाराज है और उन्हें अपने लिए मरा हुआ समझ चुका है। भगत आदमी है। कबीर और दादू के भजन गाया करता था। गाते-गाते थक गया तो बैठे ढाले एक दीवानी का मुकद्मा दायर कर बैठा।"**[1]

गौरतलब है कि श्रीलाल जैसे साहित्यकार का भी व्यवहार लंगड़ के प्रति बेचारगी और सहानुभूतिपूर्ण है। उनका मानना है कि लंगड़ जब कबीर और दादू के भजन से थक जाता है तो बैठे ठाले एक दीवानी मुकदमा दायर कर लेता है। जैसे लंगड के लिए मुकदमा लड़ना 'मनोरंजन का साधन' हो। चित्रण से ऐसा लगता है कि समय काटने के लिए शोक से मुकदमा दायर किया गया है। आखिर खाली व्यक्ति को व्यस्त रहने का कोई बहाना तो चाहिए ही?

साहित्यकार ही एक ऐसा जीव (अच्छे अर्थ में) होता है जो समाज का यथार्थ चित्रण करता है। समाज में हाशिये पर रह रहे वर्ग को साहित्य के माध्यम से जनता के सामने लाता है। उनकी एक 'दृष्टि' (vision) होती है। दुख की बात है कि समाज में सबसे हाशिये पर रहने वाले विकलांग वर्ग के प्रति श्रीलाल शुक्ल जी का भी दृष्टिकोण बेचारगी भरा ही है।

वस्तुस्थिति तो यह है कि लंगड अपने जमीन के हक की लड़ाई लड़ता है। हक और अधिकार की लड़ाई लड़ना मनुष्य का नैसर्गिक गुण है। लंगड की जमीन पर सरकारी अधिकार हो जाता है, उनके पास खेती के लिए भी जमीन नहीं बचती, जिससे वह अपना जीवन-यापन कर सके। उक्त जमीन को फिर प्राप्त करने के लिए उन्होंने कोर्ट में अर्जी दिया है। पहली अर्जी

---

1. राग-दरबारी, श्रीलाल शुक्ल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 1984, पृ. सं. -47

में कुछ कमी रह गई, इसलिए वह खारिज हो गई। लंगड ने दूसरी अर्जी दी। कुछ दिनों बाद वह नकल लेने तहसील गया। नकलनवीस घूसखोर था। उन्होंने लंगड से पाँच रुपये माँगे। लंगड ने कहा–रेट तो दो रुपये का है। इसी को लेकर बहस हो गई। पास के अन्य नकलनवीसों ने लंगड़ पर दया दिखाने का आग्रह किया, लेकिन उक्त नकलनवीस जौ भर भी नहीं हिला और बोला–**"मर्द की बात एक होती है। जो कह दिया, वही लूँगा।"**[1]

इस पर अन्य नकलनवीसों ने लंगड को समझाया कि नकल बाबू घर गृहस्तीदार आदमी हैं। लड़कियाँ ब्याहनी है। इसलिए रेट बढ़ा दिया है। मान जाओ और पाँच रुपया घूस देकर काम करा लो। लंगड इस पर ऐंठ गया। बोला कि–**"अब यही होता है। तनख्वाह तो दारू-कलिया पर खर्च करते हैं और लड़कियाँ ब्याहने के लिए घूस लेते हैं।"**[2]

इस पर नकल बाबू बिगड़ गया। गुर्राकर बोला–**"जाओ, हम इसी बात पर घूस नहीं लेंगे। जो कुछ करना होगा कायदे से करेंगे।"**[3] इस पर लंगड को भी गुस्सा आ गया। उसने अपनी कंठी छूकर कहा–**"जाओ बाबू, तुम कायदे से काम करोगे, तो हम भी कायदे से ही काम करेंगे। अब तुमको एक कानी कौड़ी भी न मिलेगी। हमने दरख्वास्त लगा दी है, कभी-न-कभी तो नम्बर आयेगा ही।"**[4]

दोनों अपने-अपने जिद पर अड़े हैं। प्रश्न उठता है कि किसकी जिद वाजिब है और किसकी गैर वाजिब। निःसंदेह लंगड की जिद वाजिब है। इसे जिद भी कहना अनुचित होगा, बल्कि इसे 'सत्याग्रह' कहा जा सकता है। जिद तो वह होती जब लंगड भी लाठी-डंडे के बल पर नकल ले लेता। लंगड को यह 'सत्याग्रह' भारी पड़ता है। उसे आजीवन नकल नहीं मिलती। उपन्यासकार यही दिखाना चाहते हैं कि आज भ्रष्टाचार में आकंठ डूबे समाज में सत्य, न्याय की लड़ाई लड़ना कितना कठिन है। लंगड इसका एक उदाहरण है।

यह तो हुई लंगड के व्यक्तिगत सत्यागह की कहानी, जिसमें एक तरफ प्रशासन की लालफीता शाही, घूसखोरी और बेईमानी है, तो दूसरी तरफ मूलधन के रूप में लंगड़ का धैर्य।

---

1. *राग-दरबारी, श्रीलाल शुक्ल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 1984, पृ. सं. - 48*
2. *वही, पृ. सं.-48*
3. *वही, पृ. सं.-48*
4. *वही, पृ. सं.-48*

समाज इस पर क्या सोचता है? क्या वह लंगड को सम्मान देता है? वह इसे किस रूप में लेता है? इसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

शिवपाल गंज के सबसे प्रभावशाली, परम समाज सेवी वैध जी लंगड के बारे में कैसे सोचते हैं, यह द्रष्टव्य है। लंगड सहायता के लिए वैद्य जी के पास भी गया। उसे लगता है कि वैद्य जी इस समस्या का कोई हल अवश्य निकालेंगे। उपन्यासकार ने वैद्य जी के पास लंगड़ के जाते समय की मनोदशा और स्थितियों का जीवंत चित्रण किया है। वे लिखते है–**"तब तक लंगड दरवाजे पर आ गया था। शास्त्रों में शूद्रों के लिए जिस आचरण का विधान है, उसके अनुसार चौखट पर मुर्गी बनकर उसने वैद्य जी को प्रणाम किया। इससे प्रकट हुआ कि हमारे यहाँ आज भी शास्त्र सर्वोपरि है और जाति-प्रथा मिटाने की सारी कोशिशें अगर फरेब नहीं है तो रोमांटिक कार्रवाइयाँ हैं।"**[1]

लंगड ने जब देखा कि इस साष्टांग दण्डवत का प्रभाव भी वैद्य जी को प्रभावित नहीं कर पाया तो वह भीख जैसे मांगते हुए कहा–**"तो जाता हूँ बापू।"**[2]

लंगड के उपर्युक्त कथन पर वैद्य जी का उत्तर गौर करने लायक है। वैद्य जी जवाब में कहते हैं–**"जाओ भाई, तुम धर्म की लड़ाई लड़ रहे हो, लड़ते जाओ। उसमें मैं क्या सहायता कर सकता हूँ।"**[3]

कितना हास्यास्पद जवाब है वैद्य जी का एक सकलांग विकलांग को धर्म की लड़ाई का सीख दे रहा है और स्वयं भ्रष्टाचार, लूट और सरकारी खजानों के बंदर बाँट में लगा है। वैद्य जी चाहते तो इसके लिए एक आंदोलन खड़ा कर सकते थे। वह समाज का प्रभावशाली व्यक्ति भी है। लंगड को इससे कितना आत्मबल मिलता? इससे और कितने सत्य और न्याय के लिए लड़ने वाले पैदा होते। लेकिन वे ऐसा नहीं कर पाते। ध्यान देने की बात है वे ऐसा इसलिए नहीं कर पाते कि उनके पास क्षमता तथा योग्यता का अभाव है, बल्कि ऐसा करने पर उनके भ्रष्टाचार का सारा कारोबार ही बंद हो जाता। अव्यवस्था, भ्रष्टाचार और अन्याय के खिलाफ लड़ने के लिए स्वयं पाक साफ होने की जरूरत होती है। इसे बताने की आवश्यकता नहीं कि

---

1. *राग-दरबारी, श्रीलाल शुक्ल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 1984, पृ. सं.- 46*
2. *वही, पृ. सं.-46*
3. *वही, पृ. सं.-46*

वैद्य जी स्वयं भ्रष्टाचार में आकंठ डूबे हैं। इस कारण वे लंगड की सहायता करने में अपनी असमर्थता जताते हैं। वैद्य जी भ्रष्टाचार का केन्द्र ही नहीं, बल्कि उनकी दुकान इसे पल्लवित और पुष्पित करने का केन्द्र भी है। चाल-चलन और बात व्यवहार से वह कहीं से भी भ्रष्ट और चरित्रहीन नहीं लगता। लेकिन गाँव में उनकी इच्छा के विरुद्ध एक पत्ता भी नहीं हिलता। श्रीलाल शुक्ल ने लिखा भी है–"**कुछ बदला नहीं सब कुछ वैसा ही है। प्रजातंत्र में भी नहीं बदला। समाज के लोग भी नहीं बदले। उन्होंने आगे लिखा है–वैद्य जी थे, हैं और रहेंगे। अंग्रेजों के जमाने में वे अंग्रेजों के लिए श्रद्धा दिखाते थे। देसी हुकूमत के दिनों में वे देसी हाकिमों के लिए श्रद्धा दिखाने लगे।**"[1]

उपन्यासकार ने वैद्य जी की सत्ता को तीनों काल में व्याप्त बतलाया है। साथ ही वह यह भी कहना चाहता है कि चाहे सरकार की कोई भी व्यवस्था हो, प्रजातंत्र या राजतंत्र, वैद्य जी जैसे भ्रष्ट लोगों की सत्ता हमेशा रहेगी। लंगड जैसे नैतिकता और ईमानदारी की लड़ाई लड़ने वाले हाशिए पर ही बने रहेंगे।

अब थोड़ी युवा वर्ग की मनःस्थिति के बारे में चर्चा कर लेना उपयुक्त होगा। कथाकार ने रंगनाथ और रूप्पन जैसे पात्र का सृजन कर तत्कालीन युवावर्ग की मानसिकता से पाठकों को वाकिफ कराया है। यह वर्ग किसी भी देश का कर्णधार होता है। वह चाहे तो देश की राजनीति से लेकर समाज को बदल सकता है। इतिहास में जितनी भी क्रांतियाँ हुई हैं, इसमें युवाओं की भूमिका महत्वपूर्ण रही है। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में भी युवाओं ने अहम भूमिका निभाई। लेकिन उपन्यासकार ने रंगनाथ और रूप्पन के माध्यम से युवाओं की नकारात्मक भूमिका का चित्रण किया है। युवाओं में भ्रष्टाचार और अन्याय के विरुद्ध लड़ने की चेतना का अभाव है। वे भ्रष्टाचार, प्रशासन की लालफीताशाही, शोषण तथा उत्पीड़न के प्रति समझौतावादी रूख़ रखते हैं। वे शोषण तथा भ्रष्टाचार के मूक भागीदार बन गये हैं। एक छोटी सी घटना से रंगनाथ और रूप्पन की मनोस्थिति को समझा जा सकता है। वैद्य जी रंगनाथ के रिश्ते में मामा हैं। वह एम. ए. पास है। चूरे उपन्यास में रंगनाथ अन्य की अपेक्षा अलग ढंग से सोचता है। वह प्रारंभ से सामाजिक समस्याओं के प्रति संवेदनशील भी रहता है। उन्हें पता है कि उनके

---

1. *राग-दरबारी, श्रीलाल शुक्ल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 1984, पृ. सं. - 41*

मामा (वैद्य जी) ने छंगामल इंटर कॉलेज की मैनेजरी तमंचे की नोक पर हासिल की है। इसका विरोध वह वैद्य जी के सुपुत्र रूप्पन से करता है। वह कहता है–"**उसने (रंगनाथ) साफ-साफ कहा था कि मामा को ऐसा न करना चाहिए, तमंचे के जोर से मैनेजरी मिल भी गयी तो क्या हुआ, चारों तरफ उनकी बदनामी तो हो ही गयी।**"[1]

उपन्यासकार ने एक युवा का जवाब एक युवा से ही दिलवाया है। वह है–रूप्पन, वैद्य जी का सुपुत्र। रूप्पन ने रंगनाथ को अपनी डंडामार शैली में जवाब दिया–"**देखो दादा, यह तो पॉलटिक्स है। इसमें बड़ा-बड़ा कमीनापन चलता है। यह तो कुछ भी नहीं हुआ। पिताजी किस रास्ते में हैं उसमें भी आगे कुछ करना पड़ता है। दुश्मन को, जैसे भी हो चित करना चाहिए।**"[2]

स्पष्ट होता है कि रूप्पन अपने पिता के भ्रष्टाचार और अन्याय का समर्थन करता है। वह विरोध इसलिए भी नहीं कर पाता कि उन्हें अपने पिता की विरासत (लूट और धोखाधड़ी पर आधारित) को बचाना है, ताकि जीवन भर इसका उपभोग किया जा सके। रंगनाथ का यह पहला और अंतिम विरोध है। इसके बाद वह भी व्यवस्था का अंग बन जाता है। उनका विरोध परिवारवाद में फँसकर रह जाता है। वह चार कदम आगे सोचता है तो छः कदम पीछे चला आता है। उपन्यासकार ने युवावर्ग के इस मानसिक द्वन्द का यथार्थपूर्ण तथा व्यंग्यात्मक ढंग से चित्रण किया है। तथाकथित बौद्धिक वर्ग जिसमें कॉलेज के प्रिंसिपल और अन्य शिक्षकवृन्द आते हैं, की भी मानसिकता समझौतावादी और अवसरवादी ही है।

उपर्युक्त सारे स्वनामधन्य तथाकथित महान पात्रों के चरित्र से लंगड के चरित्र की तुलना करने पर लंगड इन लोगों पर भारी पड़ता है। वह साहस, आत्मविश्वास, धैर्य की प्रतिमूर्ति है। वह नाहक किसी से नहीं डरता। न वह स्वयं भ्रष्टाचार करना चाहता है और न किसी को भ्रष्टाचार करते हुए देखना। बावजूद इसके वह समाज में सबसे उपेक्षित पात्र है। समाज के लोग उनसे कैसे व्यवहार करते हैं उनकी एक बानगी इस प्रकार है। छोटे पहलवान जो स्वयं बुरे कार्यों तथा व्यसनों के लिए पूरे शिवपाल गंज में चर्चित हैं। लंगड़ पर रौब झाड़ते हुए कहता

---

1. *राग-दरबारी, श्रीलाल शुक्ल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 1984, पृ. सं. - 190*
2. *वही, पृ. सं.-190*

है–"**मौजी आदमी : साला सूली पर चढ़ा बैठा है। परसों तहसीलदार से तू-तड़ाक, कर आया है, मौज कहाँ से करेगा?**"[1] वह आगे कहता है–"**बात से बतासे फोड़ने से क्या होगा? साला जाकर नकलनवीस को पाँच रुपये टिका क्यों नहीं देता?**"[1]

रूप्पन को एक सिपाही से घनिष्ठता है। रूप्पन को देखकर उनका भी मन दो शब्द कहने के लिए मचल गया। उन्होंने लंगड को सलाह देते हुए कहा–"**तुम साले बाँगडू हो। दो रुपये के पीछे जिंदगी बरबाद किये हो। ठोक क्यों नहीं देते हो दो रुपये।**"[2]

इस प्रकार लंगड समाज की सारी उपेक्षा अपमान का घूँट पीकर अपने न्याय मार्ग से नहीं डिगता। उसे विश्वास है कि नकल जल्द ही मिल जाएगा। वह मास्टर के पूछने पर कहता भी है–"**बात मान लो बापू, आज मैं सब ठीक कर आया हूँ। दरख्वास्त में दो गलतियाँ फिर निकल आयी थीं, उन्हें दुरुस्त करा दिया है। इस पर दूसरे मास्टर ने खीझकर कहा–"पहले भी तो तुम्हारी दरख्वास्त में गलती निकली थी। यह नकलनवीस बार-बार गलतियाँ क्यों निकाला करता है। चोट्टा कहीं का।**"[3]

मास्टर द्वारा नकलनवीस को चोट्टा कहने पर लंगड गाँधीवादी रूप में मना करते हुए कहता है–"**गाली न दो बापू, यह धरम की लड़ाई है। गाली-गलौच का कोई काम नहीं, नकलनवीस बेचारा क्या करे। कलम वालों की जात ही ऐसी है।**"[4]

लंगड नकल लेने के लिए बार-बार कोर्ट जाता है, प्रत्येक बार कोई-न-कोई गलती निकल ही जाती है। वह अपना घर और जमीन को छोड़कर कोर्ट के पास ही किसी रिश्तेदार के पास रहने लगता है। बीमार भी पड़ जाता है, लेकिन धैर्य नहीं खोता।

प्रश्न किा जा सकता है कि क्या लंगड को नकल मिलने की पूरी उम्मीद थी? क्या वह प्रकारांतर में नहीं जानता कि नकलनवीस से दुश्मनी लेकर नकल प्राप्त करना असंभव है? उपन्यासकार ने स्वयं लिखा भी है–"**लंगड जानता है कि नकल बाबू उसकी दरख्वास्त**

---

1. *राग-दरबारी, श्रीलाल शुक्ल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 1984, पृ. सं. - 150*
2. *वही, पृ. सं.-150*
3. *वही, पृ. सं.-332*
4. *वही, पृ. सं.-131*

किसी-न-किसी बहाने खारिज करा देगा। दरख्वास्त बेचारी तो चींटी की जान जैसी है। उसे लेने के लिए कोई बड़ी बात न चाहिए। दरख्वास्त को किसी भी समय खारिज कराया जा सकता है। फीस का टिकट कम लगा है, मिसिल का पता गलत लिखा है; एक खाना अधूरा पड़ा है।"[1]

सवाल किया जा सकता है कि लंगड को जब यह पता था कि हमें नकल नहीं मिलेगी तो वह फिर क्यों इसके लिए प्रयासरत था? ऐसा लगता है कि लंगड अपने जीवन के दो द्वन्दों के बीच जूझ रहा था। उनके जीवन में दो फाँक दिखाई देती हैं। उसका जीवन दो अतियों से गुजर रहा था। पहला अतिवाद का रूप था—गाँधीवाद का विकृत रूप, जिसमें सत्याग्रह की जगह बेचारगी तथा दीनता की प्रधानता है और दूसरा अतिवाद है—उसका 'सोशल एलिनेशन' का शिकार होना। 'गाँधीवाद' से प्रभावित होकर भी लंगड का चरित्र उस रूप में नहीं ढल पाया है। इन्हें एक 'असफल गाँधीवादी' या 'विकृत' गाँधीवाद का वाहक कहा जा सकता है। महात्मा गाँधी जिस प्रकार का 'सत्याग्रह' किया करते थे इसमें लंगड असफल रहा। गाँधी ने किसी से दीनता और हीनता से बात नहीं की। उन्होंने किसी को 'बाबू' 'भैया' नहीं कहा, जैसा कि लंगड़ इस उपन्यास में कहता है। गाँधी ने हमेशा तर्क के आधार पर सत्य की लड़ाई लड़ी थी। 'सत्याग्रह' का अर्थ उनकी नजरों में सत्य के लिए आग्रह करना था न कि दया की भीख मांगना। इस प्रकार लंगड की तुलना महात्मा गाँधी से या फिर 'मैला आँचल' के बामनदास से करना अनुचित होगा। बामनदास मन-कर्म और वचन से अंततोगत्वा गाँधीवादी बना रहता है। लंगड शुरुआत तो गाँधीवादी ढंग से करता है, लेकिन उनका अंत हास्यास्पद हो जाता है। इन्द्रनाथ मदान ने 'हिन्दी उपन्यास : एक नई दृष्टि' नामक पुस्तक में लंगड के बारे में ठीक ही लिखा है कि—**"मुकदमा और कचहरी उपन्यास पर इतना हावी है कि यह कभी-कभी इसका मूलस्वर बनने की गवाही देने लगता है। लंगड इसके मरकस में है जिसने अदालत में मुकदमे की अर्जी दे रखी है और जिसका फैसला उपन्यास के अन्त तक नहीं हो पाता। मुकदमें का फैसला सुनने के लिए अगला जन्म पड़ा है।"**[2]

---

1. *राग-दरबारी, श्रीलाल शुक्ल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 1984, पृ. सं. - 49*
2. *हिन्दी उपन्यास : एक नई दृष्टि-इन्द्रनाथ मदान, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-1975, पृ. सं.-92*

महात्मा गाँधी को न्याय के लिए अगले जन्म तक इंतजार नहीं करना पड़ा था। उन्होंने सारी अहिंसक लड़ाइयाँ अपने जीवन काल में ही लड़ी थीं और सफलता भी पायी। इसका महत्वपूर्ण कारक गाँधीजी को जनता का सहयोग मिलना था। 'रंगभूमि' के सूरदास को भी जनता का सहयोग मिला था, जिसके कारण वह विकलांग से भगवान बन गया है। लंगड को यह सहयोग नहीं मिल पाया। इस कारण उन्हें 'सोशल एलिनेशन' का शिकार होना पड़ा। उसे किसी का सहयोग नहीं मिला। सत्य, न्याय और आदर्श के संग्राम में वह अभिमन्यु की तरह अकेला लड़ता रहा, लेकिन जीत अन्याय रूपी भ्रष्टाचार की ही हुई। सहयोग की जगह उपहास और गालियाँ मिली जिसके कारण वह सामाजिक रूप से हाशिए पर चला गया। उनका अस्तित्व ही खतरे में पड़ गया। 'द प्रोब्लम ऑफ मारजिनल मैन' में स्टोनक्वेस्ट ने ठीक ही लिखा है—**"संकट के अनुभव के कारण ही उसके अंदर हाशिए के लोगों का गुण आता है। यह संकट ही तय करता है कि भिन्न-भिन्न परिस्थिति में वह किस तरह से अपना विरोध जाहिर करे।"**[1]

---

1. *The Problem of Marginal Man-Stonequist, The American Journal of Sociology, July, 1935, P. No. 10*

खंजन नयन (अमृतलाल नागर)

अमृतलाल नागर का उपन्यास 'खंजन नयन' विकलांगता की दृष्टि से महत्वपूर्ण उपन्यास है। इसमें सूरज नेत्रहीन विकलांग पात्र है, जो नेत्रहीन महिला विकलांग पात्र कंतो से आध्यात्मिक प्रेम करता है। इस उपन्यास का भावबोध राजा राधिका रमण प्रसाद सिंह के उपन्यास 'सूरदास' (1942) से बहुत मिलता-जुलता है। 'सूरदास' उपन्यास में भी दोनों पात्र विकलांग हैं, और दोनों आध्यात्मिक प्रेम करते हैं। लेकिन दोनों के प्रेम में अंतर है।

नागर जी ने सूरज का परिचय इस प्रकार कराया है–**"मेरा जन्म गोवर्द्धन के निकट परासौली ग्राम में हुआ था, किन्तु चार वर्ष की आयु में गुरू ग्राम के पास सीही चला गया। पिता सारस्वत, अपने क्षेत्र में भागवत महाराज के नाम से विख्यात थे। एक समय घर में थोड़ा वैभव भी था, किन्तु नौ बरस पहले जब सिकन्दर सुल्तान अपनी फौजी लूट के लिए दिल्ली से निकला था तब हमारे गाँव में भी तबाही आयी थी। आधे से अधिक घर तोड़ डाला गया था।"**[1]

सूरज का परिचय देते हुए डा. पुष्पा बंसल ने अपनी पुस्तक 'अमृतलाल नागर : भारतीय उपन्यासकार' में लिखा है–**"भागवत गायक संगीतज्ञ पिता अपने सभी पुत्रों को भागवत-वाचक के व्यवसाय के लिए तैयार करते हैं। तीसरा पुत्र आयु से छोटा होते हुए भी संगीत व माधुर्य एवं कला में सबसे आगे है। गायन प्रतिभा भाइयों की मारक-उत्पीड़क ईर्ष्या व पिता की उपेक्षा दिलाती है। संवेदनशील बालक नौ वर्ष की आयु में घर छोड़ देता है तथा हीरो बाबा की उँगली पकड़कर दर-ब-दर भटकता है, नेत्र ज्योति के अभाव में स्पर्श एवं श्रवण के माध्यम से बाह्य दुनिया को जानना पहचानना सीखता है तथा नाद स्वामी से संगीतज्ञ शिक्षा ग्रहण करता है।"**[2]

---

1. *खंजन नयन, अमृत लाल नागर, शान प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली, प्रथम संस्करण-1981, पृ. सं.-14*
2. *अमृत लाल नागरः भारतीय उपन्यासकार-डा. पुष्पा बंसल, दिनमान प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण. 1987, पृ. सं.-56*

यह है-सूरज का संक्षिप्त परिचय। इनका असली नाम सूर्यनाथ था। पिता सूरा कहते थे, माता सूरज। लेकिन समाज इन्हें सूरदास के नाम से पुकारता था। यह सूरदास भक्ति कालीन हिन्दी कवि सूरदास हैं। इसी को आधार बनाकर नागर जी ने 'खंजन नयन' की रचना की है। इसके पहले उन्होंने 'मानस का हंस' उपन्यास में गोस्वामी तुलसीदास को नायक बनाया था। 'खंजन नयन' का सूरदास और भक्तिकालीन कवि सूरदास में क्या कोई अंतर है? यह एक अलग चर्चा का विषय हो सकता है।

उपन्यास के प्रारंभिक सोलह परिच्छेदों में सूरदास का मानस संघर्षरत व्यक्ति के रूप में उभरता है। उन्होंने समाज में सम्मान पाने के लिए चमत्कारिक करतबों का सहारा लिया है। उन्नीस वर्ष की आयु तक सूरदास ज्योतिष, संगीत, काव्यशास्त्र, काव्य रचना सब में निपुण हो जाते हैं। शरीर स्पर्श से, आवाज से, प्रश्न के समय से अथवा प्रश्न की शब्दावली से वे प्रश्न-विचार करते हैं तथा भूत-वर्तमान एवं भविष्य के विषय में ठीक-ठीक बताते हैं। आने वाले तूफान, आने वाली मृत्यु, राज्य कर्मचारियों द्वारा पकड़कर ले जाए जाते हुए सेठ—ये सारी सूचनाएँ देकर सूरदास अधिकारियों तथा धनाधीशों के प्रेम व श्रद्धा के पात्र बन जाते हैं। एक बार की घटना है—चंदनमल की सोने-चाँदी की पेटियाँ डाकुओं द्वारा लूट ली जाती है। सूरदास भी उसी नाव पर रहता है जिस पर ये सारी पेटियां होती हैं। शाम ढल चुकी है। बरसात का मौसम है। यमुना नदी में लूटपाट मची है। अंधेरे में पता नहीं चल पाता है कि सोने और चाँदी की पेटियाँ कहाँ गई। लेकिन सूरदास अपने ज्ञान योग से चंदनमल को बता देता है कि उनकी पेटियाँ यमुना नदी में सुरक्षित है। नागर जी ने लिखा है—"समय बतलाये जाने पर सूरज ने मन ही मन लग्नों का हिसाब लगाया, बोला—"**अपनी नाव पानी में बैठी है। मेरी जान में बैठाई गई है। जहाँ थी वहाँ से अधिक दूर नहीं; पाँच सौ हाथ ऊपर खींच ले गए हैं। उसमें धन भी है।**"[1]

उपन्यास के प्रारंभिक परिच्छेदों में सूर का व्यक्तित्व चमत्कारिक कलावाजियों से ओतप्रोत है। इन कलाबाजियों से उन्हें समाज में सम्मान मिलने लगता है। उन्हें देवता की तरह पूजा जाने लगता है। चंदनमल सूरदास से इतना प्रभावित हो जाता है कि वह उन्हें अपने यहाँ रहने

---

1. *खंजन नयन, अमृत लाल नागर, शान प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली, प्रथम संस्करण-1981, पृ. सं.-19*

का आग्रह करता है। इससे प्रभावित होकर अन्य लोग भी अपना हित साधना चाहते हैं। एक व्यक्ति तो रूपया देकर किसी दुश्मन को मारने का प्रस्ताव रखता है। जब सूरदास ऐसा करने से मना करता है तो उन्हें आँख न होने के लिए चिढ़ाया जाता है।

सूरदास गायन विद्या में सिद्ध था। एक दिन उनके पिता भागवत महाराज गुडगाँव में कथा बांच रहे थे। इसी कथा स्थली में संयोग से पिता की वाणी ने कुछ पल विराम लिया तो सूरदास ने अवसर पाकर अपनी काव्य प्रतिभा से दर्शकों से अपना लोहा मनवाया। उपन्यासकार ने लिखा है–"**उस दिन बड़ी वाह-वाही पाई थी। कथा सुनने वाले धनी जनों ने धन, वस्त्र के रूप में उसे उपहार दिए थे। पिता भी प्रसन्न थे। उस दिन उसका पहली बार आदर मान हुआ था। पिता का सूरा, माँ का सूरज अपने मन से ही हरिराय का सूरदास बना था। भगवत् कृपा से क्या नहीं हो सकता? उसे एक दिन सब कुछ दिखलाई पड़ेगा।**"[1]

लेकिन बहुत जल्द ही बाहर पाई हुई प्रशंसा और शाबासी के आबदार मोती घर आते ही उसके लिए ओस की बूंदे बन गई। भागवत प्रेमियों की सभा में पाई प्रशंसा भाईयों के लिए ईर्ष्या का कारण बन गया। सूरदास का बड़ा भाई गोपाल था। वह सूरदास के पहले सभा स्थलों पर प्रशंसित हुआ करता था। लेकिन सूरदास का गला अपने बड़े भाई गोपाल से भी बेहतर था। गोपाल को यह फूटी भी नहीं सुहाता था कि उनके सामने दूसरा भी कोई प्रशंसित हो। गोपाल सूरदास की प्रतिभा से चिढ़ने लगा। परिणामस्वरूप एक दिन सूरदास को अपनी त्रितंत्री वीणा टूटी हुई मिली। दूसरे दिन पिता के वीणा पर अभ्यास कर रहा था, तो उसकी खोपड़ी से पत्थर का एक नोकीला टुकड़ा आ टकराया। प्रतिदिन कुछ न कुछ होता ही रहता। कुछ दिनों के लिए पिता कहीं बाहर गये थे। सूरदास वीणा पर अभ्यास करता तो पांच-सात लड़के घर की बैठक के आगे खड़े होकर ऊँचे स्वर में चिल्ला-चिल्ला कर आने लगे–कौवा करे कांव-कांव सूरा करे भौं, भौं। सूरदास की तन्मयता भंग हो जाती। वह गाँव के पुराना शिवालय में चला जाता। उनके बाल मन में कई प्रश्न उठ खड़े होते। वह पार्वती मैया से कहता–"**मैया मैं तो तेरा जनम-जनत का पूत-कपूत हूँ पर तू तो कुमाता नहीं है। मुझे एक ही आँख दे दे। मैं**

---

1. खंजन नयन, अमृत लाल नागर, शान प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली, प्रथम संस्करण-1981, पृ. सं.-38

देखूं तो सदी ये दुनिया कैसी है। चाँद-सूरज कैसे होते हैं। ....अब तू कहेगी कि सूरे में माता कुमाता नहीं हूँ पर तेरे लिए मैं आँख कहाँ से लाऊँ।...अच्छा, पर एक काम कर सकती है। शिवजी के पास तो तीन नेत्र हैं, भला उन्हें तीन नेत्रों का अब क्या काम है?''[1]

सूरदास के मन में इस तरह कई प्रश्न उठ खड़े होते। किसी तरह वह अपने चित्त को शांत करता। भ्रातृ ईर्ष्या का चरम बिन्दु तब प्रकट होता है जब सूरज के गाने पर ग्रहण लगाया जाता है। नागर जी ने लिखा है–**''प्रशंसा के इन्हीं दिनों में एक दिन गोपाल पर कोई मुसलमान पीर का प्रेत चढ़ा। ऐसा लगता है मंझले भाई वासुदेव भी इस षड्यंत्र में शामिल थे। घर में बड़े-बड़े नाटक हुए। पास-पड़ोस टोले-मुहल्ले की भीड़ घर में टूट पड़ी थी, प्रेत की बस यही मांग थी कि सूरज गाना बन्द कर दे। इससे मेरी इबादत भंग होती है। यदि ऐसा न किया तो तेरे घर का नाश कर दूँगा। पिता ने बड़ी मेहनत से सूरज को तैयार किया था। उन्हें एक जगह पर मन में गहरा दुख तो था किन्तु सारे घर को बचाने के मोह में ढोंगी प्रेत को यहाँ तक आश्वासन दे गए कि यदि वह भविष्य में गाएगा तो वे उसे घर से निकाल देंगे।''**[2]

इस तरह सूरदास को अपने घर और परिवार से विरक्त होने के लिए मजबूर किया जाता है। वह चमत्कार का सहारा लेकर झूठी प्रशंसा भी प्राप्त करता है। एक सेठ के काम करने पर उन्हें दो सुन्दरियों का सेवा भी प्राप्त होता है। अमीन तेगअली ने अनारो और सुनैना को उनकी सेवा टहल के लिए नियुक्त कर रखा है। नागर जी ने लिखा है–**''अन्धा सूरज सुनैना के आगे और भी अन्धा हो गया था। वह सब कुछ भूल गया था। हरि-हरि। कैसे सम्मोहन-भरे दिन थे वे भी। अपने दुख के दिन, पिता की मार, भाईयों का तिरस्कार आदि कुछ भी याद न आता था....।''**[3]

घर छोड़ने के बाद पहली बार उन्हें स्त्री की सेवा मिली थी। नागर जी ने लिखा है–**''पैतृक घर अपमानों की मार से छूटा और यह स्वार्जित घर मदन मार से। अपमान**

---

1. *खंजन नयन, अमृत लाल नागर, शान प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली, प्रथम संस्करण-1981, पृ. सं.-39*
2. *वही, पृ. सं.-45*
3. *वही, पृ. सं.-54*

की मार तो बिसर गई, किन्तु मदन मार अभी तक तड़पाती है। इस कालू केवट की बहिन कंतो ने सूरज के दिल में मुर्दे-सी सोई सुनैना को जगा दिया है। बेकली बढ़ गई है। न इस करवट चैन मिले न उस करवट।''[1]

सुनैना का साथ छूटने के बाद सूरदास की भेंट कंतो से होती है। मथुरा में सूरदास की भेंट कालू केवट की कुरूप कानी बहन कंतो से होती है। कंतो का निरन्तर साहचर्य सूर में काम और भक्ति के बीच संघर्ष जगा जाता है। जिसमें भक्ति की विजय होती है। कंतो सूर के लिए प्रेरणा है। कंतो के साथ वे गोकुल रावलगाँव व वृन्दावन आदि स्थानों की यात्रा करते हैं। वृन्दावन में अपने श्याम सखा के दर्शन कर, भिखारी बस्ती में रहकर भजन-कीर्त्तन करते हैं। सूरदास और कंतो के बीच वार्तालाप का कुछ अंश द्रष्टव्य है–

''तेरा ब्याह हो चुका कंतो?

उहूँ।

उमर तो बड़ी लगे हैं, या क्यों नई भया?

अंधी, धुंधी, कालो में भी काली। ऊपर से माता

के दाग। मोय कौन पूछैगो। या जनम तो

बस मार खाइबे और काम करबे के ताई मिल्यो है।

मैं सुख कहा जानूं।''[2]

कंतो इतनी देर में पहली बार खुलकर बोली, जीवन की सारी कटुता एक ही बहाव में पनाले-सी बहा दी। सूरदास और कंतो का यह प्रारंम्भिक वार्तालाप बाद में चलकर जीवन के अंतरंग संबंधों पर जा टिकता है। सूरदास कंतो से पूछता है–''कभी किसी पुरुष का संग सुख अनुभव किया है? अपना प्रश्न अपने ही गालों पर तड़ातड़ तमाचे मारने लगा और उसी बीच में कंतो का उत्तर भी कानों में पड़ा–''उहूँ।''[3]

दोनों के बीच में मौन का मोटा पर्दा पड़ गया; फिर एक निःश्वास ढील कर सूरज कहने लगा–''**मुझे तुझसे सहानुभूति है। तेरी ही तरह मुझे भी काम सताता है। तेरे मधुर**

---

1. *खंजन नयन, अमृत लाल नागर, शान प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली, प्रथम संस्करण-1981, पृ. सं.-54-55*
2. *वही, पृ. सं.-52*
3. *वही, पृ. सं.-69*

झंकार-भरे स्वर ने कल से मुझे मतवाला बना रखा था। विशेष रूप से आज दिन में मेरी भी भूख ऐसी भड़काई है कि क्या कहूँ।....मैं भी अठारे बरस का हूँ कोई बूढ़ा तो नहीं हुआ....नहीं। नहीं नहीं।''[1]

आग्रह भाव से दबा झन-झन करता स्वर कानो में पड़ा–''**तुम जैसे चाहो वैसे रखियों। मैं क्या करके तिहारी जात नांय बिगाडूँगी।''**[2]

राग-विराग के हिंडोले में झूलते हुए सूर स्वामी हँसे, कहा–''**उस प्रकार की जाति वर्ण इत्यादि तो मैं सीही में छोड़ आया।''**[3]

राजा राधिका रमण प्रसाद सिंह के 'सूरदास' उपन्यास के सूरदास और धनिया के प्यार और इस प्यार में अंतर है। राधिका जी का सूरदास धनिया से जहाँ भागे-भागे फिरता है, स्पर्श करना भी भगवत् भक्ति के विरुद्ध समझता है वहीं नागर जी का सूरदास कंतो से अंतरंग संबंधों तथा काम जनित पीड़ा पर खुलकर बात करता है। इन्हें बताने में कोई हिचक नहीं होता कि हमें भी काम वासना सताता है। इसका प्रमुख कारण शायद यह भी हो सकता कि नागर जी का सूरदास भक्तिकालीन कृष्ण भक्तिशाला के कवि सूरदास हैं। कृष्ण से प्रभावित सूरदास राधा और कृष्ण की रास रचाने, केलि करने में विश्वास करते हैं, जबकि राधिका जी का सूरदास मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम से प्रभावित हैं, जिनके लिए उन्मुक्त प्रेम सामाजिक शुचिता के लिए बाधक है। नागर जी का सूरदास काम-वासना की आग के कारण कंतो से शारीरिक संबंध बनाने का प्रयास भी करता है। बनारसीदास ने इलाहाबाद में दो कोठरियाँ रात काटने के लिए भाड़े पर लिया। एक स्वयं के लिए और दूसरा सूरदास और कंतो के लिए। रात के एकांत में सूरदास का शरीर कंतो के शरीर से टकराता है। नागर जी ने लिखा है–''**सूरज ने अपने आलिंगन में बांधना चाहा। कंतो का मन भी कमजोर पड़ रहा था, परन्तु मुख पर 'ना-ना' थी। सूरज की आकांक्षाएँ उस 'ना' को अपनी 'हाँ' में दबा देने के लिए उतावली थी।''**[4]

खपरैल की छत पर बंदरों की चींचीं खों खों भरी भागम भाग से एक पुरानी ईंट का टुकड़ा

---

1. *खंजन नयन, अमृत लाल नागर, शान प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली, प्रथम संस्करण-1981, पृ. सं.-70*
2. *वही, पृ. सं.-70*
3. *वही, पृ. सं.-70*
4. *वही, पृ. सं.-120*

टूट कर नीचे गिरा, बढ़ते मदन वेग पर मानो गाज गिरी। खों-खों-खों–**"यंद्री का लबबड़ा।"**[1]

"परे हटो! हनुमान जी देख रहे हैं।" कहकर कंतो छिटककर दूर जा खड़ी हुई। सूरज हाँफने लगता है–अपने प्रति क्रुद्ध, लज्जित और पाश्चाताप विगलित होकर। सहसा भावावेश में वह कंतो के पैर पर गिर कर कहता है–**"तू सचमुच पूजने लायक है। तेरा आज का उपकार कभी नहीं भूलूँगा कंतो। मेरे साथ हर जगह कलंक सहने के अतिरिक्त तुझे मिला ही क्या है।"**[2]

इस प्रकार सूरदास का वासनागत प्यार आध्यात्मिक प्रेम में बदल जाता है। वह कंतो से और भी स्नेह रखने लगता है। इस स्नेह में सम्मान का भाव अधिक था। डा. हेमराज कौशिक ने अपनी पुस्तक 'अमृतलाल नागर के उपन्यास-नये मूल्यों की तलाश' में लिखा है–**"'खंजन नयन' में नागर जी ने सूर के श्याम मन तथा 'काम' मन के आत्म संघर्ष का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। सूर एक ओर कृष्ण के प्रति सत्यनिष्ठ होना चाहता है, दूसरी ओर मन में 'काम' की अतृप्त लालसा उसे तृप्ति के लिए उत्तेजित करती रहती है। नागर जी ने सूर के इस आत्मसंघर्ष के कथा सूत्र को खूब खींचा है।"**[3]

सूरदास और कंतो के प्रेम को फ्रायड के 'लिबिडो थियरी' के साथ जोड़ कर देखा जा सकता है। डा. हेमराज कौशिक ने अपनी पुस्तक में लिखा है–**"बालक के जन्म के साथ ही जिस काम भावना की उत्पत्ति हो जाती है उसकी परितृप्ति के लिए वह साधनों का तलाश करता है। फ्रायड यह स्वीकार करता है कि प्रेम की प्रथम अनुभूति बच्चों में माँ के स्तन पान, उसकी उष्णता तथा आनंद से होता है। प्राथमिक अवस्था में बालको को बाह्य जगत की चेतना नहीं होती। इस कारण से बालक की प्रेम एवं कामवृत्ति स्वकेन्द्रित रहती है। जिसे फ्रायड आत्म प्रेम की संज्ञा से अभिहित करता है। यह प्रक्रिया उस समय तक सतत् चलती रहती है, जब तक स्व अथवा अहं का पूर्ण प्रेम की अवस्था में विसर्जित नहीं हो जाता। फ्रायड स्वप्रेम से मुक्ति मानसिक स्वास्थ्य के लिए**

---

1. *खंजन नयन, अमृत लाल नागर, शान प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली, प्रथम संस्करण-1981, पृ. सं.-120*
2. *वही, पृ. सं.-121*
3. *अमृतलाल नागर के उपन्यासः नये मूल्यों की तलाश, डॉ हेमराज कौशिक, प्रकाशन संस्थान दिल्ली, प्रथम संस्करण. 1985. पृ. सं.-184*

अवस्था में विसर्जित नहीं हो जाता। फ्रायड स्वप्रेम से मुक्ति मानसिक स्वास्थ्य के लिए अनिवार्य मानते हैं।''[1]

सूरदास के चरित्र और व्यक्तित्व पर यह विचार उपयुक्त जँचता है। सूरदास पहले स्वकेन्द्रित कामतृप्ति से पीड़ित कंतो से प्रेम करता है, जो बाद में आध्यात्मिक प्रेम में बदलकर एक नई ऊँचाई ग्रहण करता है। डा. कौशिक ने फ्रायड का संदर्भ देते हुए आगे लिखा है—**''फ्रायड ने लिबिडो थियरी में लिबिडो को व्यापक परिप्रेक्ष्य में प्रयुक्त कर प्रेम और यौन की प्रत्येक स्थिति में समाहित किया है। जन्म से मृत्युपर्यन्त मनुष्य इस लिबिडो द्वारा ही संचालित होता रहता है। लिबिडो की परिधि में नर-नारी के दैहिक-संबंध को ही नहीं लिया जाता अपितु वात्सल्य, स्नेह, सहानुभूति आदि भावों का भी इसके अन्तर्गत सन्निवेश किया गया है।''**[2]

सूरदास 'लिबिडो थियरी' के इसी वात्सल्य स्नेह, सहानुभूति से आगे चलकर प्रभावित होता है। यहाँ अब वासना नहीं सच्चा प्रेम है। इस उदात्तता का जनक कुन्तो है, न कि सूरदास। तिरस्कार, लांछना, मारपीट, षड्यंत्र पर पुरुष के आमंत्रण, कोई कंतो को अपने व्रत से डिगा नहीं पाया। मेरा किनारा तो तुम दो सामी जी....मोसो रूढियो मत सामी जी। या दुनियां में मेरा कोऊ नाय दें।...तुम जैसे चाहो वैसे रखियो। मैं ब्या करके तिहारी जात नाय बिगाडूँगी। डा. पुष्पा बंसल ने कुंतो के बारे में लिखा है—**''ऐसा कहने वाली अपढ़ कुन्तो आस्था व प्रेम में मीरा बाई को चुनौती देती है। उसने यथास्थिति को समझ लेने के बाद जब भाव में भाव का वरण कर लिया तो तन को एकदम नकार दिया; यहाँ तक कि बरसात में भीगने के बाद, तुम अपनी पीठ फेर लो माराज! मैं हूँ देह पोंछ लूँ। कहकर वह पाठक की आत्मा की गहराइयों तक भिगो जाती है।''**[3]

इस प्रकार सूरदास और कुन्तो का प्रेम आध्यात्म में बदल जाता है। इसमें स्थूल शरीर का स्थान कम सूक्ष्म मन या भावना का स्थान सर्वोपरि है। उनके इस आध्यात्मिक प्रेम में 'यहाँ'

---

1. *खंजन नयन, अमृत लाल नागर, शान प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली, प्रथम संस्करण-1981, पृ. सं.-90*
2. *वही, पृ. सं.-90*
3. *भारतीय उपन्यासकार, अमृतलाल नागर, डा. पुष्पा बंसल, दिनमान प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-1987, पृ. सं.-62*

और 'अभी' की चिन्ता कम लेकिन 'वहाँ' की चिन्ता अधिक है। प्रख्यात आलोचक प्रो. पुरुषोत्तम अग्रवाल ने अपनी पुस्तक 'निज ब्रह्म विचार' में 'यहाँ' और 'अभी' से पार जाने की लालसा के बारे में लिखा है–"**अपने 'यहाँ' और 'अभी' से पार जाने की लालसा, इतने विराट ब्रह्मांड का इतना तुच्छ और फिर भी इतना अनिवार्य अंश होने के अहसास से पैदा होने वाला विस्मय और विनम्रता, जीवन का अर्थ खोजने की अदम्य आकांक्षा–ये सब मनुष्य की आत्म सत्ता के आध्यात्म तत्व को सूचित करते हैं। इस आत्मसत्ता की आध्यात्म सत्ता को यह अध्यात्म सत्ता ही मनुष्य को मनुष्य बनाती है।**"[1]

सूरदास के चरित्र पर प्रो. अग्रवाल जी का विचार सटीक बैठता है। सूरदास अपने जीवन का वास्तविक अर्थ खोजने में लग जाता है, जो उन्हें अध्यात्म की ओर मोड़ ले जाता है। उन्हें एहसास होता है कि हमारे इस जीवन का अर्थ यहीं तक सीमित नहीं है। प्रो. पुरुषोत्तम अग्रवाल ने इस संबंध में आगे लिखा है–"**यह हमारे सामाजिक संबंधों को भी व्याख्या का ढांचा प्रदान करता है।....इस व्याख्या के जरिए हम विश्वास करते हैं कि हमारे 'इस' जीवन का अर्थ 'यहीं' तक सीमित नहीं है। इस 'अर्थ' का विस्तार परलोक जन्मान्तर या अन्य किसी विधि के जरिये यहाँ और अभी से आगे जाता है।**"[2]

कथाकार नागर जी ने सूरदास जैसे चरित्र का सृजन धर्म की महत्ता को स्थापित करने के लिए किया है। सूरदास पर कृष्ण भक्ति शाखा का प्रभाव है। भक्ति आंदोलन के कवि सूरदास बल्लभ संप्रदाय में दीक्षित होने के पहले सिद्ध तथा नाथों के मतों में विश्वास करते थे। बाद में बल्लभचार्य के मार्गदर्शन में उन्होंने कृष्ण की भक्ति को स्वीकार किया था। नागर जी ने अपने उपन्यास के सूरदास का सृजन इसी आधार पर किया है। अपने गुरु महाराज से मिलने के पहले सूरदास चमत्कारिक करतबों में विश्वास करता है, बाद में धर्म की शरण में आने के बाद वह पूर्णतः भगवान की भक्ति में लीन हो जाता हैं प्रो. पुरुषोत्तम अग्रवाल ने 'निज ब्रह्म विचार' में धर्म के बारे में लिखा है–"**धर्म का समग्र आख्यान समर्पण की भी समग्रता ही चाहता है। नितान्त लौकिक सत्ता, सत्ताधारियो के स्वार्थों, प्रतिनिधियों के नितान्त**

---

1. *निज ब्रह्म विचार, प्रो. पुरुषोत्तम अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण-2004, पृ. सं.-24*
2. *वही, पृ. सं.-28*

संकीर्ण और अपवित्र दावों के प्रति परम पवित्र और पारलौकिक प्रकार का समर्पण।"[1]

इस प्रकार सूरदास और कन्तो का जीवन धर्म और अध्यात्म को पूर्णतः समर्पित हो जाता है। लेकिन सूरदास और कन्तो के चरित्र पर विकलांगता की दृष्टि से विचार करने की भी जरूरत है। इस संदर्भ में राजा राधिका रमण प्रसाद सिंह का उपन्यास 'सूरदास' प्रासंगिक है। सूरदास और धनिया की तरह ही नागर जी का सूरदास और कंतो भी अपनी काम गत इच्छाओं को दबाता है। अपनी वासना का दमन करता है। ताकि समाज में वह साधु पुरुष बना रह सके। यह भारतीय सभ्यता और संस्कृति की महानता भी है तो दूसरी ओर सबसे बड़ा दुर्गुण भी। भारतीय समाज की यह सबसे बड़ी कमजोरी है कि वह उन्हीं को महान मानता है, जिसने काम वासना को काबू में कर लिया हो। बेचारा सूरदास यही मार्ग (आरज पंथ) अपनाता है।

---

1. निज ब्रह्म विचार, प्रो. पुरुषोत्तम अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण-2004, पृ. सं.-29

वे वहाँ कैद हैं। (प्रियंवद)

प्रियंवद का उपन्यास 'वे वहाँ कैद हैं' में विकलांगता का विशद् वर्णन नहीं मिलता है। इसमें एक विकलांग पात्र है—जीवन। यदा-कदा उपन्यास में इसकी चर्चा है; लेकिन प्रधानता से नहीं रहते हुए भी वह उपन्यास के सभी पात्रों को प्रभावित करता है। सारे पात्र जीवन के इर्द-गिर्द घूमते चक्कर लगाते रहते हैं। इस अर्थ में और विकलांगता की दृष्टि से उपन्यास विशिष्ट बन पड़ा है। जीवन आठ साल का है। लेखक ने उसका परिचय इस प्रकार कराया है—**"पलंग पर जीवन लेटा था—नन्हा सा-मांस पिंड। दुबले-पतले हाथ-पैर निकले थे, जोड़ों पर से, मुड़े हुए थोड़े। जीभ बाहर लटकी हुई थी। होठों पर लार का फेना चिपका था। खाल थोड़ी लटकी हुई थी। चेहरे पर सदा रहने वाला पीलापन था। उसकी भाव शून्य पथराई आँखें अभी तक छत से चिपकी थीं। प्रातू को देखते हाथ-पैर उछालकर वह खुशी से गों...गों... करने लगा।"**[1]

जीवन बोल नहीं पाता। वह परिचितों को देखकर हँसता और मुस्कुराता भर है। यही उनकी सांकेतिक प्रतिक्रिया है। डाक्टर ने जीवन के बारे में उनके परिजनों को स्पष्ट शब्दों में कह दिया है—**"शरीर का विकास तो होगा पर मस्तिष्क वही दो साल के बच्चे का रहेगा, या शायद कुछ बढ़ सके कभी वह भी।"**[2]

यही हैं जीवन का संक्षिप्त परिचय। वैसे उपन्यास का कथानक है—सांप्रदायिकता और इसके बरक्स एक धर्मनिरपेक्ष समाज की स्थापना। दादू एक सेवानिवृत्त प्रवक्ता है। उनकी बेटी है—प्रातू। प्रातू की शादी एक पायलट से होती है। बाद में उसके पति की मौत एक विमान दुघर्टना में हो जाती है। जीवन उस समय गर्भ में होता है। जीवन उनके दिवंगत पिता का दिया नाम है। उपन्यास में दो युवा पात्र भी हैं—अविनाश और चिन्मय। चिन्मय दादू का शिष्य रह

---

1. वे वहाँ कैद हैं—प्रियंवद, संवाद प्रकाशन, मुंबई, मेरठ, प्रथम संस्करण-1994, दूसरा सं.-2002, पृ. सं.-16

2. वही, पृ. सं.-64

चुका है। वह 'हिन्दू फन्डामेंटलइज्म' का समर्थक है। इसके लिए वह एक संगठन भी खड़ा करता है। दादू धर्म-निरपेक्ष व्यवस्था का समर्थक हैं। इसी मुद्दे पर उसका दादू से विचारधारात्मक तर्क-वितर्क होते रहता है। बाद में चिन्मय दादू की धर्मनिरपेक्षता विचारधारा से प्रभावित होकर उनका समर्थक बन जाता है। यही इस उपन्यास का उद्देश्य है और इसी में इसकी सार्थकता भी निहित है।

उपन्यास में प्रेमप्रसंग भी है। अविनाश और चिन्मय दोनों प्रातू से प्रभावित है। दोनों उससे प्रेम करते हैं। लेकिन बीच में जीवन दीवार की तरह है। जीवन के प्रति प्रातू इतनी समर्पित है कि अविनाश और चिन्मय को कम समय दे पाती है। अविनाश प्रातू से कहता भी है—"मुझे मालूम था कि तबीयत खराब नहीं होगी और तुम्हें मेरी जरूरत नहीं पड़ेगी। जिंदगी में कभी नहीं।" अविनाश आगे कहता है—सब झूठ है। तुम्हारे लिए बस जीवन...दादू स्कूल संगीत यही है बस। इसपर प्रातू कहती है—इसमें से किसको छोड़ दें बोलो अविनाश। अविनाश फिर गुस्से में कहता है—**"किसी को मत छोड़ों, पर कोशिश करने से सब हो सकता है। सवाल यह है कि मेरे पास बैठने का कोई इंक्लिनेशन ही नहीं है तुम्हारा। फिर मैं ही क्यों रूकूँ यहाँ चिरौटे की तरह। इसलिए चला गया। रोज चला जाऊँगा।"**[1]

प्रश्न किया जा सकता है कि प्रातू अविनाश को समय क्यों नहीं दे पाती? क्या वास्तव में उसके पास समय का अभाव है? नहीं। सच्चाई यह है कि उसे लगता है कि अविनाश को समय देने का अर्थ है जीवन से निरपेक्ष होना। अभी वह पूरे मनोयोग से जीवन से जुड़ी है। उसे हमेशा डर सताता रहता है कि कहीं ऐसा करने पर जीवन छूट न जाये। इसलिए वह स्वयं को मारती है। एक घटना से यह और भी स्पष्ट होता है। जीवन अचानक बीमार पड़ जाता है। प्रातू अविनाश को साथ लेकर डाक्टर के पास जाती है। लेखक ने लिखा है—**"रास्ते भर प्रातू जीवन को स्वयं चिपकाए बैठी रही थी। उसकी आँखों में लगातार एक भय था। चमकता हुआ। एक बुरी आशंका की बेचैनी से भरा। अविनाश पहली बार महसूस कर रहा था कि जीवन के होने का क्या अर्थ है—प्रातू के लिए।"**[2]

---

1. *वे वहाँ कैद हैं—प्रियंवद, संवाद प्रकाशन, मुंबई, मेरठ, प्रथम संस्करण-1994, दूसरा सं.-2002, पृ. सं.-5*
2. *वही, पृ. सं.-54*

अविनाश प्रातू के व्यवहार से हमेशा उदास रहता है। इसी कारण उसे जीवन से ईर्ष्या भी होने लगी है। अविनाश एक आम आदमी है। इस कारण उनमें मानवीय कमजोरी भी है। वह इस ईर्ष्या को छिपाता नहीं बल्कि दूसरे दिन प्रातू को बोल भी देता है–**"कल जब हम डाक्टर के यहाँ जा रहे थे, तब मुझे जीवन से ईर्ष्या हो रही थी, बल्कि क्रोध आ रहा था। इस पर कि वह क्यों है। वह तुम पर मेरा अधिकार और मेरा अंश छीन रहा था जैसे। मैंने कल उस बच्चे से ईर्ष्या की प्रातू। कल शाम उन क्षणों में मैं बहुत गिर गया था। पर विश्वास करो मेरी, ऐसा अब कभी नहीं होगा, कभी नहीं।"**[1]

इसका जवाब प्रातू एक सामान्य बच्चे की माँ की तरह नहीं देती, बल्कि एक विकलांग की माँ की तरह देती है। हँसती हुई आवाज में प्रातू अविनाश से बोलती है–**"वह बहुत अभागा है अविनाश....उस पर हमेशा दया करना। फिर ऐसा मत करना कभी। तुम्हें फिर जीवन से ईर्ष्या हो तो उसे ठीक से देखना बस। तुम्हें सिर्फ दया आएगी उस पर।"**[2]

अविनाश के उक्त 'कॉनफेशन' और प्रातू से मिले आश्वासन के बाद वह अविनाश की बन जाती है। प्रातू अविनाश को अपनी शारीरिक स्वीकृति (जो उपन्यास में व्यक्त नहीं है, लेकिन दोनों साथ रहने लगते हैं) तभी देती है, जब वह (अविनाश) जीवन के अस्तित्व को स्वीकारने के लिए तैयार हो जाता है। गौर करने की बात है कि इस स्वीकृति के लिए न तो प्रातू की तरफ से दबाव है और न अविनाश पर कोई बाध्यता। सारा कार्य मानवीय धरातल को लिए भावना के अनुरूप हुआ है। आखिर प्रातू की भी अपनी शारीरिक और मानसिक आवश्यकताएँ हैं। उसका सारा जीवन पड़ा है। उसे बाकी जीवन भी जीना है, लेकिन यह सब तभी संभव हो पाता है जब अविनाश जीवन को स्वीकर करने के लिए तैयार हो जाता है। यह आत्मा और भावना का बदलाव उपन्यास को अन्य उपन्यासों (विकलांगता को दृष्टि में रखकर लिखा गया उपन्यास) से अलग भी करती है।

पाँच दिन बाद जीवन का जन्मदिन है–प्रातू ने धीरे से अविनाश से कहा। अविनाश–"जन्मदिन" अविनाश चौंक गया। इस एक छोटे से वाक्य से जीवन जैसे अचानक

---

1. *वे वहाँ कैद हैं–प्रियंवद, संवाद प्रकाशन, मुंबई, मेरठ, प्रथम संस्करण-1994, दूसरा सं.-2002, पृ. सं.-64*
2. *वही, पृ. सं.-65*

उनके बीच पूरी तरह अस्तित्व में आ गया। आवेगों, संवेगों, कल्पनाओं और आकांक्षाओं का अस्तित्व जो किसी दूसरे के अस्तित्व को पूरी तरह अतिक्रमित कर सकता है। अपनी उपस्थिति दिखा सकता है। प्रवाह में सबके साथ बहता हुआ। **"कमरे में एक कोने में लेटा गों...गों. ...मात्र करता शिथिल मांस पिंड नहीं, एक संपूर्ण मनुष्य की तरह भरी-पूरी आत्मा लिए।"**[1]

उपर्युक्त उद्धरण का अंतिम वाक्य आँख खोलने वाला है। एक विकलांग कैसे परिवार और समाज में 'संपूर्ण मनुष्य' बनता है, उपन्यासकार ने इसे बड़े ही भावनात्मक और यथार्थपरक दृष्टि से दिखलाया है। लेकिन यह सब एक शिक्षित परिवार और समाज की वश की बात है। ग्रामीण क्षेत्रों में तथा अशिक्षित परिवारों में यह एक दिवा स्वप्न की तरह है।

---

1. वे वहाँ कैद हैं–प्रियंवद, संवाद प्रकाशन, मुंबई, मेरठ, प्रथम संस्करण-1994, दूसरा सं.-2002, पृ. सं.-63

ज्यों मेंहदी को रंग (मृदुला सिन्हा)

मृदुला सिन्हा का उपन्यास 'ज्यों मेंहदी को रंग' पिछले दिनों हिन्दी साहित्यिक जगत में खासा विवादित रहा है। आजकल बॉक्स ऑफिस पर ज्यादा कमाने तथा स्वयं को चर्चित करने के लिए फिल्में भी विवादित बनायी जाती हैं। कभी-कभी साहित्य पर भी इसका ग्रहण लग जाता है। यद्यपि साहित्य की तुलना फिल्म से नहीं की जा सकती। जहाँ तक मृदुला सिन्हा को प्रेमचन्द के व्यक्तित्व और कृतित्व के समकक्ष स्थापित करने की बात है तो मृदुला सिन्हा इसमें कमजोर साबित होंगी।

सामाजिक उपयोगिता के आधार पर इस उपन्यास को परखने पर इसकी उपयोगिता सिद्ध की जा सकती है। मेरा आग्रह उपन्यास के सिर्फ कथ्य से है। इसमें विकलांगता की चर्चा की गई है, जो मेरे शोध का विषय है। प्रेमचंद के 'निर्मला' उपन्यास में महिला शोषण तथा उत्पीड़न का चित्रण है। तत्कालीन समाज में महिलाओं पर पुरुषों द्वारा तरह-तरह के अत्याचार किये जाते थे। पाठ्यक्रम में 'निर्मला' उपन्यास को रखने के पीछे प्रमुख कारक है—विद्यार्थी तथा बौद्धिक जगत को इस समस्या पर 'सेनसिटाइज' करना। आज के समय में महिलाओ की स्थिति में पहले की अपेक्षा बहुत सुधार आया है। आज वह अपने बारे में स्वयं लिख रही हैं। आज के समय में विकलांगों की स्थिति महिलाओं की अपेक्षा अधिक दयनीय है। महिलाओं की स्थिति में सुधार आने का एक प्रमुख कारण है—पाठ्यक्रमों में इन समस्याओं से जुड़े हुए कथा साहित्य को रखा जाना। यदि विकलांगों की समस्याओं से जुड़ी हुई कहानियों या उपन्यासों को पाठ्यक्रमों में रखा जाता है, तो निश्चित रूप से विकलांगों के प्रति समाज के नजरिये में बदलाव आएगा। लेकिन प्रेमचंद को दरकिनार करके ऐसा नहीं किया जाना चाहिए। 'ज्यों मेंहदी को रंग' उपन्यास में मृदुला सिन्हा ने एक विकलांग स्त्री की संवेदना को सामाजिक, आर्थिक तथा पारिवारिक स्तर पर जीवंत रूप में दिखलाया है। उपन्यास की नायिका शालिनी ने मुख्य भूमिका अदा की है और उन्हीं के इर्द-गिर्द सारी चीजें घूमती हैं, बनती और बिगड़ती हैं। नायक

के रूप में स्वयं दद्दा हैं—संस्था के संस्थापक। संपूर्णता में देखा जाय तो यह एक सामाजिक उपन्यास है। उपन्यास में विकलांगता को निम्न बिन्दुओं में बाँट कर देखा जा सकता है—

1. विवाह बाद दुर्घटनावश विकलांग बनी एक महिला की पीड़ा।
2. पुरुष प्रधान समाज के कारण विवाह विच्छेद तथा इस पर समाज की प्रतिक्रिया।
3. विकलांग ही विकलांग की प्रेरणा स्रोत तथा विकलांगता का सामाजीकरण।

उपन्यास की नायिका शालिनी एक सुन्दर, सुशील और सफल गृहिणी है। उनका पति राजेश ही नहीं बल्कि उनके ससुराल के सभी सदस्य इन गुणों के कायल थे। उनके रूप और गुणों की भरपूर चर्चा होती थी। शालिनी की सास को उनकी चाल बहुत भाती थी। वह कहती भी है—**"बहू, मुझे तो तुम्हारी वही चाल पसंद है जो....जो एक दिन राजेश के साथ पटना मार्केट में देखी थी। कितनी मस्ती में भाग रही थीं तुम—मेरे बेटे को भी पीछे छोड़ के! हैं न? वह आगे कहती हैं—बहू, खुल के चल न। पायल को बजने दे। आस-पड़ोस को पता तो चले कि घर में बहू आई है।"**[1]

दुर्भाग्यवश शालिनी का दोनों पैर स्टीमर दुर्घटना में कट जाता है। उनपर विपदाओं का पहाड़ टूट जाता है। ससुराल का वही प्यार और दुलार शालिनी पर सितम बनकर टूट पड़ता है। राजेश को छोड़कर उनके सास-श्वसुर हालचाल पूछने अस्पताल नहीं जाते। राजेश भी बाद में शालिनी से कटा-कटा रहने लगा। शालिनी हिम्मत बटोरकर राजेश से कहती भी है—**"क्या हुआ जो हमारे दो पैर कटे, दो तो हैं।"**[2] सास भी फट पड़ीं और बोली—**"बहू! मेरे बेटे को क्या होगा? पूरी जिंदगी पड़ी है उसकी।"**[3]

रिश्तेदार और पड़ोसी भी राजेश की दूसरी शादी करना चाहते हैं। एक पड़ोसन उनकी सास से कहती है—**"राजेश की माँ बेटे को समझाओ! अभी वह नासमझ है। दुनियादारी समझता नहीं। पूरी जिंदगी पड़ी है उसकी। गाँव की किसी गरीब लड़की से शादी कर दो; जो उसे भी सँभालेगी और खटिया पर पड़ी अपाहिज सौत को भी।"**[4]

---

1. *ज्यों मेहंदी को रंग, मृदुला सिन्हा, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2003, पृ. सं.-42*
2. *वही, पृ. सं.-50*
3. *वही, पृ. सं.-50*
4. *वही, पृ. सं.-50*

उपन्यासकार ने यह नहीं बताया कि राजेश ने दूसरी शादी कर ली है, लेकिन उसने शालिनी से मिलना-जुलना बिल्कुल बंद कर दिया है। एक बार शालिनी ने उनके दिल को टटोलने के लिए राजेश से कही भी थी कि तुम दूसरी शादी कर लो। राजेश उस समय मना कर दिया था लेकिन शालिनी उसे पास बुलाती है तो उस ढंग से नहीं मिलता जिस तरह वह पहले मिला करता था। धीरे-धीरे राजेश शालिनी को भूल जाता है और शालिनी अस्पताल में ही निःसहाय रह जाती है। दुर्घटना के बाद भी शालिनी के उत्साह में कोई कमी नहीं आयी। उसकी इच्छाएँ दमित नहीं हुईं। वह आज भी राजेश और ससुराल वालों से वैसा ही प्यार चाहती हैं, जैसा उसे पहले मिला करता था। उपन्यासकार ने शालिनी के माध्यम से कहा भी है—**"स्टमीर से उतरते वक्त शालिनी के दोनों पैर कट जाने से उसकी इच्छाएँ-आकांक्षाएँ तो खत्म नहीं हुई थी। पूरा शरीर तो पड़ा ही था। उड़ान भरता मन, उड़ान की योजना बनाता मस्तिष्क तो सजग था, सचेत था। उनकी सजगता और चेतनता तो मानो बढ़ ही गई थी; फिर राजेश उससे क्यूँ कटता-फिरता था? और सास जी? वह क्यों कतराने लगी थी?"**[1]

शालिनी दद्दा जी से पैर बनवाकर फिर से पूर्ववत जीवन जीना चाहती हैं, लेकिन नियति का कुछ और ही विधान था। ससुराल वाले उन्हें स्वीकार नहीं करते। वह परित्यक्ता का जीवन जीने के लिए मजबूर हो जाती है।

मानवीय स्वभाव का यह दुर्गुण है कि जब तक व्यक्ति सुन्दर रहता है उनकी पूरी आवभगत की जाती है, उनके एक इशारे पर चाँद सितारे तोड़ लाने की बात की जाती है, लेकिन ज्योंहि पुरुष की दृष्टि में स्त्री में कुरूपता, विकलांगता आ जाती है, नारी देह से उसकी विरक्ति होने लगती है। गौरतलब है कि पुरुष स्वयं को कभी कुरुप नहीं मानता।

समाज के सामने यह यक्ष प्रश्न है कि दुर्घटनावश या प्रकृति प्रदत्त विकलांग बन जाने के बाद क्या व्यक्ति की नैसर्गिक इच्छाएँ, कामनाएँ मर जाती हैं? क्या वह प्यार और सम्मान के लायक नहीं रह जाता? क्या उन्हें अपनी इच्छा और आकांक्षा को दमित कर लेना चाहिए? क्या शालिनी दाम्पत्य जीवन जीने में असफल हो जाती? क्या प्यार सिर्फ देह से होता है, सौन्दर्य

---

1. ज्यों मेहंदी को रंग, मृदुला सिन्हा, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2003, पृ. सं.-49

से होता है? क्या भावना, संवेदना तथा आंतरिक गुण का जीवन में कोई स्थान नहीं है? इत्यादि।

अगर ऐसी बात है तो हमें 'सौन्दर्य के प्रतिमान' को बदलना होगा। शालिनी की समस्या पर स्त्री पक्ष से भी सोचने की जरूरत है। क्या उस (राजेश) तथाकथित पूर्ण व्यक्ति ने कभी यह सोचा है कि यह घटना स्वयं के साथ घटी होती यानी शालिनी ने ऐसा किया होता तो उन्हें कैसा लगता? ऐसी घटना उनके भाई-बहन, माँ, बच्चे के साथ हुआ होता तो कैसा लगता? शालिनी द्वारा ठुकराये जाने पर सारा समाज उसे मतलबी, स्वार्थी तथा चरित्रभ्रष्ट कहता, जबकि राजेश द्वारा छोड़ने पर किसी ने कोई प्रतिक्रिया नहीं की, उलटे उनके रिश्तेदार और समाज इसमें सहायक भी बने। सवाल यहाँ छोड़ने या न छोड़ने की नहीं है। आधुनिक भारतीय समाज में महिलाएँ भी विकलांगों को नकारने लगी हैं। महत्वपूर्ण सवाल यह है कि दुर्घटनावश या प्राकृतिक विकलांगता की स्थिति में क्या विकलांग दाम्पत्य प्यार पाने के योग्य नहीं रह जाता?

सामंती मानसिकता वाले पुरुषवादी समाज में महिलाओं का शोषण मध्यकाल या इसके पहले से चलता आ रहा है। हैरत की बात है 21वीं सदी में भी इनके सोच में बदलाव नहीं आया। आधुनिक युग में भी स्त्री 'ताड़न के अधिकारी' योग्य मानी जाती हैं।

सच्चाई तो यह है कि विकलांग अपने जीवन से नहीं ऊबता, जबकि उससे समाज ऊब जाता है। उसके संघर्ष पूर्ण जीवन को जीवन न मानकर समाज इसे जीवन को ढोना मान बैठता है। उनके नजर में घिसटकर चलने से मर जाना अच्छा होता है। समाज और बौद्धिक वर्ग को विकलांगों के प्रति नजरिये में आवश्यक बदलाव करना ही होगा।

शालिनी दद्दा जी से जल्दी पाँव लगाने की जिद करती हैं। इसके पीछे भी एक मनोविज्ञान है। वह ऐसा बार-बार क्यों कहती हैं? यह गौर करने लायक है। उन्हें डर है कि जल्दी ससुराल नहीं लौटने पर राजेश कहीं दूसरी शादी न कर लें। उन्हें पता है कि आगे कौन-कौन सी समस्याएँ उत्पन्न हो सकती हैं? इस मनोविज्ञान को शालिनी द्वारा अस्पताल में बनाये गए गुड़ियों से समझा जा सकता है। लेखिका ने लिखा है कि–"**लेकिन हँसती-खेलती, फूल**

तोड़ती, नाचती गाती, हाथ में हाथ मिलाए चलती नवदंपत्ती की जोड़ी ही बना पाती थी शालिनी। कृष्ण के साथ राधा की अठखेलियाँ ही उतार पाती। भूल से भी उसने विरहणी राधा नहीं बनाईं। राम-लक्ष्मण के साथ अनेक सीताएँ बना गई—पुष्प वाटिका से लेकर वन-गमन तक की, पर रावण के घर में बैठी सीता बनाना उसके वश की बात न थी। स्त्री का वह रूप उसे भाता ही नहीं था।''[1]

दद्दा ने एक बार एक गुड़िया हाथ में लेकर इशारा भी किया था—**''शालिनी, पीहर से विदा लेती दुल्हन गुड़िया रोती नहीं क्या? तू रोई नहीं थी?''**[2] और सचमुच उस दिन शालिनी खूब रोयी थी—जी भरकर। किसी ने देखा नहीं। अपनी सहेली महिमा और रेखा को 'शुभ रात्रि' कहने के बाद वह अपने बिछावन में छिपकर रातभर खूब रोती है। तकिया गीला हो जाता है। लेकिन सुबह सबसे पहले उठ भी जाती है।

शालिनी के प्रति समाज की सोच उस समय और भी हास्यास्पद हो जाती है, जब शालिनी को लेक्चरशिप प्राप्ति के लिए अपने देह के साथ सौदा करने की सलाह दी जाती है। दद्दा के मित्र शर्मा जी शालिनी के लिए प्रवक्ता की नौकरी ढूँढ़ते हैं, विकलांग होने के कारण का बहाना बनाकर नौकरी नहीं दिया जाता है। शर्मा जी के एक अन्य मित्र ने उसे ऐसा करने की सलाह दी है। समाज की यह कैसी मानसिकता है? एक तरफ शालिनी के प्रति राजेश है जो विकलांगता के कारण शारीरिक सुख नहीं देता दूसरी तरफ समाज की वह ललचायी आँखें हैं, जो उसका शारीरिक उपभोग करना चाहता है। एक इसलिए उपभोग करने से बचता है, क्योंकि बँध जाने का भय है, दूसरा इसलिए उपभोग करना चाहता है क्योंकि बंधन नहीं हैं। ऐसा लगता है कि विकलांगों का कोई अपना अस्तित्व ही नहीं है, समाज में। विकलांगता ने उनके सारे इज्जत सम्मान का अपहरण कर लिया हो। विकलांगता विवशता बन गया हो और आत्मसम्मान और स्वाभिमान जैसी चीजें सिर्फ सकलांगों की हिस्से की बात हो।

सच्चाई है और ऐसा देखा भी गया है, कभी-कभी विकलांग आत्मसम्मान और स्वाभिमान की रक्षा में सकलांगों पर भी भारी पड़ गया है। इसके लिए उन्हें हानि भी उठानी पड़ी लेकिन सामाजिक प्रतिमान स्थापित करने के लिए उन्होंने स्वाभिमान का दामन नहीं छोड़ा।

---

1. *ज्यों मेहंदी को रंग, मृदुला सिन्हा, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2003, पृ. सं.-30*
2. *वही, पृ. सं.-30*

इस बात को कहने में कोई हिचक नहीं होनी चाहिए कि विकलांगों की अवहेलना परिवार में नहीं होती। लेखिका मृदुला सिन्हा ने इस पक्ष का भी चित्रण किया है। परिवार में भी विकलांगों की अवहेलना तथा शोषण होता है। खासकर महिला विकलांगों के साथ। माँ और पिताजी सहानुभूति रखते हैं, लेकिन उनके कमजोर पड़ते ही विकलांग निःसहाय महसूस करने लगते हैं। लेखिका ने शर्मा और दद्दा के प्रसंग में स्पष्ट लिखा है—"**....और खासकर इन अपंग लोगों के लिए पैसा और सहानुभूति देने की बात करते हो शर्मा। जब अपने लोग इनके ऊपर खर्च करना बेकार समझते हैं, बड़ी कठिनाई से इनकी जरूरतें पूरी कर पाते हैं तो समाज और सरकार की क्या कहते हो? मेरी संस्था में अनेक ऐसे रोगी आए हैं, जिनके घर वाले वहाँ उनकी अवहेलना करने लग गए थे...भरपेट भोजन तक नहीं देते थे। और...और यथार्थ तो यही है कि तमाम अपंगों की आर्थिक समस्या सुलझ जाए तो वे दया के पात्र ही न रहें।**"[1]

इस तथ्य में सच्चाई है कि विकलांगों को परिवार और समाज में अपनी योग्यता और क्षमता को साबित करना पड़ता है। तभी उन्हें वाजिब सम्मान मिलता है। आर्थिक सुदृढ़ता सबसे आवश्यक कारक है। आज के बाजारवाद, वैश्वीकरण के समय में अर्थ और भी महत्वपूर्ण बन गया है।

लेखिका ने उपन्यास में अव्यक्त रूप से 'आत्महत्या' पर भी सवाल उठाया है। यूनुस मियाँ एक ऐसा विकलांग पात्र है, जिसके दोनों पैर दुर्घटना में कट गए हैं। लेखिका ने लिखा है—"**दो वर्षों में क्या-से-क्या हो गया। उनकीनौकरी गई, पेंशन गई, बीबी बच्चा ले गई—यादें छोड़ गई। और जब उस पेंशन और यादों के सहारे उनका अकेले जीना दूभर हो गया तो उन्होंने खुदकुशी करने का पक्का इरादा बना लिया। खुदकुशी करने के अनेक रास्तों में सहज, सस्ता और सुलभ माध्यम रेलगाड़ी ही दिखी थी। बाकी अन्य माध्यमों से बच निकलने की भी संभावना हो सकती थी।**"[2]

स्थान इलाहाबाद का स्टेशन है। यूनुस मियाँ खुदकुशी करना चाहता है, लेकिन असफल

---

1. *ज्यों मेहंदी को रंग, मृदुला सिन्हा, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2003, पृ. सं.-60*
2. *वही, पृ. सं.-35*

हो जाता है। पहले तो दोनों पैर कटे थे इसबार आत्महत्या के प्रयास में दोनों हाथ कट जाते हैं। वह अट्टहास कर कहता है–"**क्या मुसीबत है! जीने के अनेक रास्ते विकलांगों के लिए बंद हो जाते हैं तो भला मरने के क्यों खुले रहें? अपाहिजों के लिए मर-गुजरना भी कितना कठिन होता है।**"[1]

यूनुस मियाँ आत्महत्या करने के लिए इसलिए विवश होता है, क्योंकि समाज उसे उपेक्षा की दृष्टि से देखता है। पत्नी जो अर्द्धांगिनी होती है, उन्होंने भी उसका साथ छोड़ दिया है। यहाँ तक कि पत्नी ने कई बार गुस्से में आकर लंगड़ा भी कहा था। इन प्रतिकूल परिस्थितियों में एक सामान्य व्यक्ति का भी धैर्य जवाब दे देता है तो युनूस मियाँ जैसे विकलांग व्यक्ति का क्यों नहीं? विकलांग अपने जीवन से कभी नहीं हारता। समाज हार जाता है। समाज की मनोवृत्ति उन्हें आत्महत्या करने के लिए बाध्य कर देती है।

लेखिका ने अव्यक्त रूप से उपन्यास में आत्महत्या बनाम इच्छा मौत पर भी सवाल उठाया है। उपन्यास में एक पात्र है, जिनका जन्म से ही दोनों हाथ और दोनों पैर नहीं हैं। हाथ-पैर विहीन मानो मांस का टुकड़ा। दद्दा की प्रसिद्धि सुनकर उनके माता-पिता इलाज के लिए यहाँ लाता है। दद्दा इस इलाज में स्वयं को असमर्थ बताते हैं। उपन्यास में एक ऐसी परिस्थिति सृजित की गई है, जिसमें दद्दा और उनके माता-पिता से बात होती है। दद्दा सारा काम छोड़कर गंगा तट पर चले जाते हैं। बाद में शालिनी के कुरेदने पर दद्दा कहते हैं–"**कभी-कभी मात्र ईश्वर के ऊपर सब कुछ छोड़ देना पड़ता है–शालिनी। आज भी असाध्य बीमारियों को ईश्वर के भरोसे छोड़कर ही तो डाक्टर और रोगी निश्चित हो जाते हैं।**"[2]

प्रश्न उठता है कि इस रोगी को देखकर और उनका इलाज न कर दद्दा सीधे गंगा तट पर क्यों चले जाते हैं? वहाँ गंगा के लहरों से वे कौन सा सवाल पूछते हैं, और जीवन-मरण की कौन-सी गुत्थी सुलझाते हैं? क्या दद्दा 'इच्छा मौत' के समर्थक हैं?

'इच्छा मौत' और 'आत्महत्या' में अंतर होता है। आत्महत्या विकलांग ही नहीं सकलांग भी करते हैं; जबकि इच्छा मृत्यु की याचना सिर्फ दयनीय स्थिति तथा जीवन को बोझ जानकर

---

1. *ज्यों मेहंदी को रंग, मृदुला सिन्हा, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2003, पृ. सं.-35*
2. *वही, पृ. सं.-126*

ढोने वाला ही व्यक्त करता है। आत्महत्या और इच्छा मौत में दूसरा अंतर भी है। 'आत्महत्या' गुस्से और भावावेश में आकर किया जाता है जबकि 'इच्छा मृत्यु' के लिए कई न्यायिक प्रक्रियाओं से गुजरना पड़ता है। पश्चिम के कई देशों में 'इच्छा मृत्यु' को जायज भी माना गया है। आत्महत्या का प्रमुख कारक 'सोशल एलिनेशन' भी है। विकलांगों में आत्महत्या का भाव 'सोशल एलिएनेशन' के कारण भी आता है। 'एलिएनेशन' को परिभाषित करते हुए निकोलस अबर्करोम्बी ने 'द पेन्गुइन डिक्सनरी ऑफ सोशियोलॉजी' में लिखा है—**"यह खासकर दार्शनिक और धार्मिक अर्थ रखने वाला टर्म था, लेकिन कार्लमार्क्स ने इसे 'सोशियोलॉजिकल कान्सेप्ट' में बदल दिया और इसे वर्ग की अवधारणा के रूप में विकसित किया। उनके अनुसार समाज दो वर्गों में विभाजित है—पहला-पूँजीपति वर्ग तथा दूसरा सर्वहारा वर्ग। पूँजीपति वर्ग सर्वहारा वर्ग का शोषक है। उनका मानना था कि मानवीय अलगाव या विच्छिन्नता सामाजिक संरचना में गहराई तक पैठा है, जो व्यक्ति के आवश्यक मानवीय स्वभाव की अवहेला करता है।"**[1]

कार्ल मार्क्स ने भी लिखा है—**"श्रमिक पूर्ण रूप से अपने श्रम पर निर्भर करता है, और खासकर वह एकतरफा मशीन बन जाता है। इस प्रकार उनका आध्यात्मिक और शारीरिक रूप से शोषण किया जाता है।"**[2]

एम. होरोलम्बस ने मार्क्स के 'एलिएनेशन' सिद्धांत का विश्लेषण करते हुए अपनी पुस्तक 'सोशियोलॉजी थिम्स एण्ड प्रोसपेक्टिव' में लिखा है—**"अपने प्रारंभिक लेखन में मार्क्स ने श्रमिक के विच्छिन्नता सिद्धांत का विकास किया। विच्छिन्नता का अर्थ है—श्रमिक का अपने श्रम से कट जाना। वह अपने उत्पादन से अपनत्व या आत्मसंतुष्टि नहीं प्राप्त कर पाता है। यह एलिएनेशन तीन स्तरों पर होता है—पहला—मजदूर का उत्पादन से कटना, दूसरा—उत्पादन के स्रोत से कटना और तीसरा—स्वयं से कट जाना।"**[3]

---

3. *The penguin dictionary of Socialogy- Nicholas Abercrousie. First Edition-1984, Published by Penguin Book, Ltd. 27, London, Third Edition - 1994, p. 12-13*
2. *Economic and Philosophic Manuscripts of 1844 - Marx, Progress Publishers- Moscow, First Edition-1959, Fifth Revised Edition-1977, Translated into English by progress publishers 1977, p.-24*
3. *Sociology Teams and perspectives - M. Haralaoubos with R.M. Head, Oxford University Press, New Delhi, First Published-1981, Six teenths impression-1997, p. 230*

कार्ल मार्क्स के 'एलिनेशन सिद्धांत' को वर्ग की अवधारणा के अतिरिक्त सामाजिक स्तर पर भी लागू किया जा सकता है—खासकर विकलांगों के संदर्भ में। विकलांग भी अपने जीवन में समाज से तीन स्तरों पर कटता है। पहला उत्पादन से यानि अपने परिवार से, दूसरा—उत्पादन के स्रोत, यानी सामाजिक सरोकारों से और तीसरा—स्वयं से। विकलांग का जन्म परिवार में होता है, लेकिन वह आम व्यक्ति की तरह परिवार में सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाता। माता-पिता की मृत्यु के बाद तो वह परिवार से 'एलिनिएट' हो जाता है। इसके बाद वह समाज में आता है। समाज व्यक्तित्व निर्माण का प्रमुख माध्यम है। यहाँ व्यक्ति सामाजिक उत्तरदायित्व का वहन करता है। उन्हें लगता है कि वे भी समाज का एक प्रमुख अंग हैं। विकलांगों के साथ ऐसी बात नहीं हैं, परिवार से कटने के बाद समाज में भी कोई कद्रदान नहीं होता। उन्हें लगने लगता है कि समाज मेरे लिए नहीं है। इस प्रकार वह समाज से भी कटा-कटा महसूस करने लगता है। अंत में जाकर वह स्वयं से 'एलिनिएट' हो जाता है। उपन्यास में युनूस मियाँ के साथ भी ऐसा ही होता है। उनको उनकी पत्नी लंगड़ा कहती है, बाद में छोड़ भी देती है। युनूस मियाँ परिवार से कटकर समाज में आता है, लेकिन समाज में भी उसका उपहास किया जाता है। अंतिम स्तर पर वह स्वयं से कट जाता है; तभी उनके मन में आत्महत्या का भाव आता है। इसप्रकार कार्ल मार्क्स के 'थियरी ऑफ एलिनेशन' को सामाजिक स्तर पर विकलांगों के जीवन के साथ जोड़ा जा सकता है।

उपन्यास से स्वालंबन का भी संदेश मिलता है। दद्दा जी के परोपकार तथा सामाजिक योगदान को विकलांग वर्ग भगवान का कार्य मानते हैं और स्वयं दद्दा जी को भगवान का प्रतिरूप। दद्दा जी के संस्था का उद्देश्य है—ऐसा पैर बनाना जिसका व्यवहार का विकलांग खेती भी कर सके और पहाड़ भी चढ़ सके। दद्दा के शब्दों में—"**हम लोगों ने वैसे पाँव बनाए हैं, जिन पर चलकर व्यक्ति खेती कर सकेगा, हल चला सकेगा, जो जहाँ है वहीं रहेगा। अनावश्यक ढंग से शहर की भीड़ नहीं बढ़ेगी।**"[1]

इसका प्रमाण भी उपन्यास में मिलता है। राठौर ने दद्दा जी के संस्था में पैर बनवाया था। समर्थ होने पर उन्होंने—"**इतना मेहनत किया कि उन्हें इलाके में सबसे अच्छी फसल**

---

1. *ज्यों मेहंदी को रंग, मृदुला सिन्हा, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2003, पृ. सं.-105*

उगाने के लिए ईनाम मिला। दद्दा जी यह भी चाहते हैं कि मेरी संस्था में पैर हाथ बनवाकर व्यक्ति फिर से भीख न मांगने लगे। ऐसी एक घटना का भी जिक्र उपन्यास में है। एक व्यक्ति संस्था से पैर बनवाकर फिर भीख मांगने लगता है। बाजार में एक दिन शालिनी की नजर उन पर पड़ जाती है। शालिनी की नजर पड़ते ही वह थर्रा गया। उसके हाथ में आए पैसे गिर गए। वह गिड़गिड़ाने लगा—बहन....मैं....मैं....मैं अब कभी नहीं करूँगा; भूल हो गई। मुझे माफ....माफ कर दो।"[1]

इस प्रकार उपन्यास में विकलांगों को स्वावलंबी के साथ-साथ स्वाभिमानी बनने का भी संदेश दिया गया है।

उपन्यास से इस धारणा को बल मिलता है कि —एक विकलांग का दर्द एक विकलांग ही अच्छी तरह से समझ सकता है। उपन्यास लेखन के पीछे महत्वपूर्ण उद्देश्य यही है, जिसमें लेखिका सफल भी हुई हैं। दद्दा के दर्द का समाज के विकलांगों के दर्द के साथ, शालिनी के दर्द के साथ 'साधारणीकरण' हुआ है। साधारणीकरण का एक पहलू यह भी है कि किसी व्यक्ति विशेष की भावना, उद्गार या दर्द का पाठक या श्रोता के साथ सामंजस्य स्थापित होना।

दद्दा स्वयं विकलांग है; इस रहस्य को वह हमेशा छिपाये रखते हैं। यह उपन्यास के अंत में मालूम होता है। वह हमेशा लंबा ओवर कोट पहने रहते हैं और पैर हमेशा पतलून से ढका रहता है चलने तथा दैनिक क्रिया-कलापों से वह कहीं भी विकलांग मालूम नहीं पड़ते। यह रहस्य तब खुलता है, जब दद्दा उर्फ अविनाश की विदेशी पत्नी लंदन से अविनाश के नाम पुरस्कार की रपट पढ़कर उनसे मिलने आती है। कहना चाहिए पुरस्कार की राशि ही लेने आती है। दद्दा ने संस्था के प्रथम तल पर ऐसा कमरा बनवाया है, जिसमें दद्दा के रहते किसी का प्रवेश निषिद्ध है। उनकी विदेशी पत्नी इसका परवाह किये दद्दा के कमरे में चली जाती है। कुतूहल या आशंका वश शालिनी भी इसके पीछे-पीछे चली जाती है। देखती है, दद्दा जी बेड पर समाचार पत्र पढ़ रहे हैं और उनका दोनों पैर कटा है। शालिनी यह देखकर आश्चर्यचकित हो जाती है। इतनी बड़ी राज की बात और आज तक किसी को पता नहीं। प्रश्न उठता है कि

---

1. *ज्यों मेहंदी को रंग, मृदुला सिन्हा, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2003, पृ. सं.-96*

दद्दा ने इस रहस्य को समाज से क्यों छिपाये रखा? इस रहस्य को छिपाने के पीछे किसी का डर नहीं, बल्कि एक बहुत बड़ा दर्द था। एक बहुत बड़ी कसक थी। वह इस प्रकार है।

दद्दा उर्फ डा. अविनाश भारत से लंदन डॉक्टरी की पढ़ाई करने गया था। वहीं उन्होंने विदेशी लड़की से शादी भी कर ली थी। पारिवारिक (दाम्पत्य) जीवन ठीक-ठाक चल रहा था। एक बच्चा भी था। किसी दुर्घटना वश अविनाश का दोनों पैर कट जाता है। दर्द की शुरुआत यहाँ से आती है। यह दर्द कोई शारीरिक दर्द नहीं, बल्कि मानसिक दर्द है, जो अपने आप में कई सवालों को जन्म देता है।

अविनाश की पत्नी उन्हें अस्पताल में छोड़कर और बच्चे को साथ लेकर चल देती है। मानवीय धरातल पर यह कितना जघन्य अपराध है, इसकी कल्पना की जा सकती है। अविनाश के माध्यम से लेखिका ने लिखा है—**"मेरे दोनों पैर कट गये, और लंदन जैसी जगह में तुम मेरे बच्चे को लेकर चली गईं; मुझे हॉस्पिटल में ही छोड़ गईं। इंगलैंड जैसे विकसित देश में अपंग होना कोई समस्या ही नहीं। और मैं हॉस्पिटल के बिछावन पर पड़ा-पड़ा सोचा करता—क्या अपंग होना अभिशाप है? क्या अपंग 'अपने' लोगों से वैसे ही कट जाते हैं जैसे मैं...मैं....कट गया था...तुमसे अपने इकलौते बेटे से? ...तभी मेरे मन में ख्याल आया—अपने देश लौट जाऊँ। वहाँ के अपंगों की सेवा करूँ।"**[1]

महिला डा. अविनाश को फिर लंदन लौटे जाने कहती हैं वह कहती है—लौट चलो लंदन-वहीं पैसे कमानां क्या इतनी छोटी जगह में पड़े हो। शालिनी की ओर इशारा करते हुए वह फिर कहती है—**"शायद उस छोकरी को भी धोखा दे रहे हो। क्या तुमने उसे बताया कि तुम शादीशुदा हो। कितना प्यार है तेरे लिए उसके मन में....लेकिन क्या किसी को पता है कि तुम....तुम भी इस लोहे-लक्कड़ के पाँव पर चलते हो।"**[2]

डा. अविनाश की पत्नी का अब भी जोर रुपये कमाने पर है। क्या पता लंदन ले जाकर और रुपये लेकर वह उनकी हत्या कर दे। जब असहाय अवस्था में वह अविनाश को छोड़कर जा सकती है, तो अब वह कौन सा प्यार जताने आयी थी? ऐसा लगता है कि उनका सारा जोर

---

1. *ज्यों मेहंदी को रंग, मृदुला सिन्हा, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2003, पृ. सं.-142*
2. *वही, पृ. सं.-1143*

रुपये पर था जो उन्हें पुरस्कार में मिला था। पूँजीवादी देशों का प्यार और मुहब्बत भी पूँजीवाद से थोड़ा प्रभावित हो जाता है। (सभी के साथ नहीं, वहाँ भी रोमियो और जुलियट पैदा हुए हैं।)

स्पष्ट है कि दद्दा जी ने जिस विकलांग संस्था को स्थापित किया है इसके पीछे उनके जीवनानुभूति का दर्द है। उन्होंने स्वानुभूति के आधार पर संस्था स्थापित किया है। वह भी महानगरीय जीवन के भागदौड़ से बहुत दूर एक छोटे से शहर बनारस में। इस छोटे से शहर में इसे स्थापित करने का महत्वपूर्ण कारक है—वास्तविक रूप से ईमानदारीपूर्वक विकलांगजन की सेवा करना। अमूमन वे इस कार्य में सफल भी होते हैं। इसका सूचक है—एक अंतर्राष्ट्रीय पुरस्कार की प्राप्ति जो महानगर में रहकर और वातानुकूलित कमरे में बैठकर विकलांगों के लिए कागजी घोड़ा दौड़ाने वाले को नहीं मिलता। गौरतलब है कि दद्दा जी ने पुरस्कार के लिए आवेदन भी नहीं किया था। पुरस्कार प्राप्ति के लिए जब उन्हें बुलाया जाता है तो वे समझ भी नहीं पाते। बाद में उन्हें पता चलता है कि इसके लिए आवेदन उनके किसी साथी ने किया था। उपन्यासकार इस प्रसंग के माध्यम से दिखलाना चाहती हैं कि निःस्वार्थ सेवा शहरी भाग-दौड़ तथा मीडिया से दूर रहकर ही किया जा सकता है। दिखावे के कार्य से विकलांग जन की सच्ची सेवा नहीं की जा सकती।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि उपन्यास 'ज्यों मेंहदी को रंग' अपनी शीर्षक की सार्थकता पर खरा उतरा है। मेंहदी बाँटने वाला अपने लिए मेंहदी बचा कर न रखे तब भी उनका हाथ रंग जाएगा, क्योंकि मेंहदी का स्वभाव तथा गुणधर्म ही होता है—दूसरे को अपने रंग में रंगना।

कोई बात नहीं (अलका सरावगी)

अलका सरावगी कथा शिल्प में ही नहीं भाव-बोध में भी अपने समकालीन कथाकारों से भिन्न हैं। उनका नवीनतम् उपन्यास 'कोई बात नहीं' नवीन भावबोध से युक्त एक सशक्त उपन्यास है। इसमें एक शारीरिक रूप से विकलांग छात्र की दारुण व्यथा तथा संघर्ष का चित्रण है। पूरा उपन्यास विकलांगता को दृष्टि में रखकर लिखा गया है। यह विकलांग कोई गरीब परिवार की नहीं है। इसके माता-पिता बहुत धनी हैं। लेकिन धनी होने से विकलांगता पर विजय प्राप्त नहीं की जा सकती। समाज की मानसिकता और व्यवहार को नहीं बदला जा सकता। धनी होना विकलांगता को सामाजिक हैसियत प्रदान नहीं करता।

उपन्यास का विकलांग पात्र शशांक सत्रह वर्ष का एक छात्र है। छात्र जीवन नये भावबोधों से युक्त होता है। स्कूल और खेल का मैदान परिवार की चहारदीवारी से निकालकर उन्हें एक नई दुनिया में ले जाता है, जहाँ वह नित्य नये-नये लोगों से मिलकर सीखता है। बाद में चलकर वह समाज और देश का एक सफल नागरिक बनता है।

लेकिन शशांक को ये सारी चीजें नसीब नहीं होती। वह एक पैर से विकलांग है वह बोलने में भी तुतलाता है। उनकी यही कमजोरी स्कूल में दाखिले में बाधक है। शशांक के घर में बगल में एक मोंटेसरी स्कूल है। उनके माता-पिता शशांक का इसमें दाखिला दिलाना चाहते हैं। लेकिन स्कूल की प्रिंसिपल मिसेज शाह ने उसे भरती करने से यह कहकर इनकार कर दिया था कि दूसरे बच्चों के माँ-बाप आपत्ति कर सकते हैं, जैसे कि शशांक को कोई छूत की (यानी फैलने वाली) बीमारी हो।"[1]

शशांक की यह शारीरिक कमजोरी उसे स्कूल में दाखिले से वंचित कर देती है। उसकी इस कमजोरी को मानसिक कमजोरी से जोड़कर देखा जाने लगता है। उसे मानसिक रूप से बीमार भी माना जाने लगता है। इस स्थिति में एक माँ और पिता पर क्या गुजरती है इसकी कल्पना

---

1. *कोई बात नहीं, अलका सरावगी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पहला संस्करण-2004, पृ. सं.-23*

की जा सकती है। माँ का प्यार ही शशांक का संबल है। उपन्यास अक्षम बेटे और उसकी माँ के प्रेम और दुख की साझेदारी की कथा है। शशंक की माँ हार मानने वाली स्त्री नहीं है। वह प्रयास करती है और इस बार उन्हें कलकत्ता की सबसे प्रतिष्ठित स्कूल 'सेंट जोसेफ' में दाखिला मिल जाता है। लेखिका ने लिखा है–"**सेंट जोसेफ स्कूल कलकत्ता शहर के सबसे पुराने और सबसे नामी क्रिश्चियन स्कूल में एक है; जिसमें दाखिला पाना किसी के लिए भी ईश्वर के राज्य यानी स्वर्ग में दाखिला पाने से कम आनंददायक नहीं है। बल्कि बहुतों को अगर दोनों में चुनने के लिए कहा जाय, तो वे यकीनन अपनी संतानों के लिए सेंट जोसेफ स्कूल को ही चुनेंगे।**"[1]

शशांक का इस स्कूल में दाखिला उनके माता-पिता के लिए विशेष महत्व रखता है। लोग अपने बच्चों का नामांकन यहाँ इसलिए कराते हैं कि इससे लड़का अन्य सामान्य विद्यार्थी से अच्छा करे, एक अच्छे व्यक्तित्व का निर्माण हो सके। लेकिन शशांक के माता-पिता के लिए यह दूसरा महत्व रखता है। लेखिका ने लिखा भी है–"**यों शशांक के परिवार के लिए उसका इस स्कूल में दाखिला होना खुशी से अधिक राहत लेकर आया था, क्योंकि अब उन्हें दूसरे लोगों को यह समझाने की जरूरत नहीं थी कि शशांक दिमाग से सही था, यानी कि वह नहीं था जिसे हिन्दी में भोला, मन्द बुद्धि, अविकसित और अंग्रेजी में रिटार्डेड और अब मेंटली चैलेन्ज कहा जाता है।**"[2]

दाखिले के बाद शशांक का कष्ट खत्म नहीं हुआ। उन्होंने देखा कि यहाँ तो बच्चों में भी वर्चस्व की लड़ाई चलती है। क्षेत्रीय और मूलगत वर्चस्व में शशांक कहीं उपर्युक्त नहीं बैठता था। क्लास में बंगाली बच्चे एक तरफ बैठते हैं, तो मारवाड़ी दूसरी तरफ। पिता और समाज से यह भेदभाव सीखकर वह इसे व्यवहार करने के लिए क्लास को उपयुक्त केन्द्र मान बैठा है। एंग्लो इंडियन का भी अपना अलग वर्चस्व है। शशांक भी मारवाड़ी है लेकिन वह एक विकलांग मारवाड़ी है, उसे मारवाड़ी 'जोन' में स्थान नहीं मिलता। दो सरहदी सीमाओ में बंटी क्लास में शशांक को 'नो मैन्स लैण्ड' का ही सहारा है। वह अपनी व्हील चेयर को इसी लैण्ड

---

1. *कोई बात नहीं, अलका सरावगी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पहला संस्करण-2004, पृ. सं.-19*
2. *वही, पृ. सं.-21*

में खड़ी करता है। नो मैन्स लैण्ड में तीन मुसलमान लड़के शमीम, शौकत और रूस्तम भी है। ये भी क्लास रूपी समाज से बहिष्कृत जीव हैं। पाकिस्तान और इंडिया के मैच के समय ये और भी परेशान हो जाते हैं। सभी इन्हें पाकिस्तान का समर्थक मानते हैं। शमीम बड़ा हँसमुख है, पर क्रिकेट की बात होने पर उसकी हँसी फीकी पड़ जाती है। एक बार तो शमीम फूट पड़ा और बोला–**"क्या यार, मैं इंडियन टीम को ही जिताना चाहता हूँ।"**[1]

यह हुआ क्षेत्रीय और धार्मिक आधार पर क्लास का बँटवारा। इस बँटवारे में शशांक का कहीं अस्तित्व ही नहीं है। क्लास में सहपाठियों द्वारा उसके साथ भेदभाव किया जाता है। उनका कोई अजीज दोस्त नहीं है। मारवाड़ी और अन्य जातियों के बच्चों से अधिक क्रिश्चियन लड़के उनसे बात करते हैं। वैसे देखा जाय तो ये लड़के भी शायद बाते करते शर्मिंदगी महसूस करते हैं। शशांक से बात करते समय भीतर-ही-भीतर उसका मजाक बनाते हों। शशांक सोचता है–**"तो क्या इसका अर्थ यह है कि क्रिश्चियन लड़कों में व्यवहार की तमीज ही ज्यादा है, अंदर से भी वैसे ही हैं, जैसे बाकी सारे।"**[2]

शशांक से क्लास में सच्चे मन से कोई दोस्ती रखता है तो वह है–आर्थर सरकार। (एक एंग्लो इंडियन) आर्थर भी क्लास में जाति बहिष्कृत है। इस प्रकार दोनों जाति बहिष्कृत और क्लास बहिष्कृतों में दोस्ती हो जाती है, क्योंकि दोनों की यह मजबूरी भी है और आवश्यकता भी। ठीक ही कहा गया है–समदुखिनी मिले तो दुख बँटे।

वैसे आर्थर भी शशांक को चिढ़ाता है। लेखिका ने लिखा है–**"आज आर्थर ने क्लास में फिर उसके चलने और बोलने की नकल उतारकर उसका मजाक बनाया था। वह लिखेगा आर्थर्को–'काश तुम इनसान होते।"**[3]

शशांक लिखता है, लेकिन फिर पत्र फाड़ देता है। लेखिका ने लिखा है–**"यदि सचमुच में लिखना होता, तो वह कभी अपने को सताए जाने जैसी घटिया बात लिख नहीं सकता, जिसमें अपने पर दया जैसी कोई चीज हो या दूसरे से दया की भीख जैसी**

---

1. *कोई बात नहीं, अलका सरावगी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पहला संस्करण-2004, पृ. सं.-24*
2. *वही, पृ. सं.-23*
3. *वही, पृ. सं.-15*

बात। वह तो किसी हालत में आर्थर पर यह जाहिर नहीं होने देता कि उसे बुरा लग रहा है। हमेशा अपने चेहरे पर अनजाने चली आई किसी छाया को हँसकर उड़ा देता है।"[1]

सत्रह वर्ष की उम्र में ऐसी सोच, शशांक की विवशता ही जाहिर करती है। इस उम्र में पढ़ने के सिवा और क्या किया जा सकता है, लेकिन वह 'सोशल एडजस्टमेंट' की बात करता है। वह पत्र लिखने की अपेक्षा बदला लेने की भावना से अर्था को भी चिढ़ाता है। वह उसे–**"'पोटैटो इन जैकेट' (छिलकेदार साबुत उबला आलू) कहकर चिढ़ाता है। क्योंकि उसे पता है आर्थर के मोटापे और गहरे गेहुएँ रंग के लिए यह उपमा एकदम सही है और आर्थर को काफी कष्ट देती है।"**[2]

गौर करने की बात है कि शशांक अन्य किसी को नहीं चिढ़ाता। यह उसकी हैसियत भी नहीं है और सामर्थ्य ही। वह आर्थर को ही चिढ़ा पाता है, क्योंकि उसे पता है कि आर्थर उसका कुछ नहीं बिगाड़ पायेगा। बावजूद इसके वह आर्थर को बहुत प्यार करता है, क्योंकि आर्थर भी उनको बहुत सहयोग किया करता है। वह क्लास में आर्थर के पास ही बैठता है–उपन्यासकार ने लिखा है–**"आर्थर के बगल वह बैठता है। वही आर्थर, जो उसके डगमगाकर चलने और हकलाकर बोलने की जब-तब नकल उतार कर चिढ़ाता है; वह वही, जो उसका एक मात्र दोस्त है। जो अगर न होता, तो उसके जीवन में एक बहुत बड़ा छेद होता; जिसमें से स्कूल का सारा दिन इस तरह गिरकर निकल जाता; जैसे कभी था ही नहीं। आर्थर है, तो स्कूल है। वह न होता, तो जाने क्या होता। कम-से-कम कोई ऐसा तो न होता, जिसे वह 'पोटैटो इन जैकेट' कह कर चिढ़ा सकता। यानि कि किसी तरह चिढ़ा सकता।"**[3]

ऐसी बात नहीं कि शशांक को क्लास का अन्य विद्यार्थी नहीं चिढ़ाता। लेकिन वह इन अपमानों को झेल लेता है। वह इसका जवाब आर्थर जैसा चिढ़ा कर नहीं दे पाता। इसका उसे हमेशा मलाल रहता है। शशांक इन सारी बातों को घर में भी नहीं बताना चाहता है। पिछली

---

1. *कोई बात नहीं, अलका सरावगी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पहला संस्करण-2004, पृ. सं.-15*
2. *वही, पृ. सं.-15*
3. *वही, पृ. सं.-19*

बार उसने गलती से तीन नाम अपने माँ को बताये थे। क्योंकि उन्हें उसे पता है कि माँ इन बच्चों से मिलने और उन्हें मानवता का पाठ पढ़ाने स्कूल भी धमक जाएगी। ऐसा पहले भी एक दो बार हो चुका था, जब उनकी माँ ने कुछ बच्चों को समझाया था। यद्यपि इसका उन बच्चों पर प्रभाव भी पड़ा था, परन्तु शशांक नहीं चाहता कि उसकी माँ उसके लिए उसके लिए किसी से दया की भीख मांगती फिरे। लेखिका ने शशांक के मन को अच्छी तरह से पढ़ा है। शशांक के माध्यम से उन्होंने कहलवाया है–**"यदि आर्थर की जगह कोई और नाम तुम्हें बता दूँ, तो तुम कहोगी कि मैं कल स्कूल आकर उस लड़के से मिलूँगी, या फिर, तुम क्या हिम्मत करके उस लड़के को ठीक नहीं कर सकते। जबकि सच तो यह है माँ कि तुम किसी को किसी तरह नहीं बदल सकती और किसी को भी ठीक करने की हिम्मत की नहीं; बल्कि जैसा कि दादी कहती है, प्रार्थना की अधिक जरूरत है।"**[1]

शशांक का बाल मन चाहता है कि मेरी माँ उनसे सुलह सफाया की बात न करें। इससे स्कूल में मेरे सम्मान पर ठेंस पहुँचती है। इससे हम सहपाठियों की नजर में और भी गिर जाते हैं। अगर तुम कुछ कर सकती हो और हिम्मत है तो उनको पीट कर ठीक करो। वह जानता है कि मेरी माँ ऐसा नहीं करेगी। इसलिए वह इन सारी बातों को माँ को नहीं बतलाता। गुस्से में आकर वह मन ही मन माँ को–'वेरी पुअर मदर' भी कहता है।

लेखिका ने शशांक के मनोविज्ञान को ठीक ढंग से समझा है। शशांक स्वयं को मानसिक रूप से सक्षम समझता है। वह मानसिक रूप से सक्षम है भी। इसलिए वह नाहक किसी से दबना नहीं चाहता।

यह तो हुई क्लास के सहपाठियों की मानसिकता, जिनके पास परिपक्वता का अभाव होता है। इन्हें घर और परिवार में जो सिखलाया जाता है वैसा व्यवहार करते हैं। लेकिन इन बच्चों के भाग्यनिर्माता यानी शिक्षकवृन्द की मानसिकता और व्यवहार शशांक के प्रति कैसा था, यह खोज का विषय है। शशांक के स्कूल के शिक्षक का व्यवहार भी असहयोग पूर्ण था। मोंटेसरी स्कूल के प्रिंसिपल ने इनका दाखिला नहीं लिया, क्योंकि इससे उस स्कूल के बच्चों के

---

1. *कोई बात नहीं, अलका सरावगी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पहला संस्करण-2004, पृ. सं.-15*

अभिभावकों को दिक्कत हो सकती थी। इस स्कूल के शिक्षक भी उनसे हमेशा हमदर्दी दिखलाया करते थे।

आगे चलकर शशांक का स्वास्थ्य और भी बिगड़ गया था। पहले वह हकला कर तो बोलता था, लेकिन इस बार बीमार पड़ने पर उनकी जुबान भी बंद हो गई। उनका स्कूल जाना बंद हो गया। उनकी माँ ने हिम्मत नहीं हारी। उन्होंने संकेतों से उनको पढ़ाना शुरू किया। इसके लिए एक संकेतात्मक लिपि भी बनायी। बाद में इसके लिए एक टाइपराइटर भी खरीदा गया। शशांक की माँ चाहती थी कि वह स्कूल जाया करें इससे पढ़ाई का क्रम जारी रहेगा। लेकिन शशांक इस टाइपराइटर के तरीके पर स्तब्ध है। वह मन-ही-मन सोचता है—**"यह क्या तरीका है माँ का? क्या समझती है अपने आप को? नहीं वह हरगिज स्कूल नहीं जाएगा। पहले खुद चलता था, तभी लड़के घूरते रहते थे और अब व्हील-चेयर पर, ओह नो, टू हेल विद एवरी बॉडी। वह वर्ड-बोर्ड पर गुस्से और दुख से थरथराती अँगुलियाँ घुमाता है।"**[1]

शशांक की माँ उसे स्कूल भेजने का हर संभव प्रयास करती है। वह समझती है कि व्हीलचेयर और टाइपराइटर से शशांक को कठिनाइयाँ होंगी, लेकिन इसे शिक्षकों और छात्रों की मदद से आसान बनाया जा सकता है। शिक्षकों को प्रभावित करने का कार्य वह पहले भी कई बार कर चुकी थी। एक बार उसके बचपन में मोंटेसरी स्कूल की प्रिंसिपल मिसेज अली अकबर को एक पत्र लिखकर उन्होंने पूछा भी था—**"बच्चों की दुनिया में भी कमजोर बच्चों के लिए कहीं जगह क्यों नहीं है और यदि नहीं है तो आप लोग बच्चों को दया, करुणा, मदद करने वालों की कहानियाँ क्यों पढ़ाते हैं? माँ के इस प्रश्न से मिसेज अली अकबर की मोंटेसरी में उसके लिए जगह निकल आयी थी।"**[2]

शशांक की माँ सिर्फ शिक्षकों को ही नहीं बल्कि उनके सहपाठियों को भी कई बार इस तरह के पत्र लिख चुकी थीं। व्हील चेयर स्कूल में किस तरह से ले जाया जाएगा इसका वह एक-दो बार स्कूल ले जाकर मुआयना भी कर चुकी हैं। शशांक को समझाने से वह स्कूल जाने के लिए तैयार हो जाता है। लेकिन उसे लगता है कि स्कूल में इसका और भी मजाक बनाया

---

1. *कोई बात नहीं, अलका सरावगी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पहला संस्करण-2004, पृ. सं.-152*

2. *वही, पृ. सं.–156*

जाएगा। सच में ऐसा होता भी है। लेखिका ने लिखा है–**"शशांक पहला दिन स्कूल जाता है, तो वह इच्छा रखता है कि उनसे क्लास के साथी मिलेंगे। सिर्फ अमित उनके साथ बैठता है–"शशांक ने सोचा था कि सारे लड़के या ज्यादातर लड़के उसके पास आयेंगे और कुछ-न-कुछ कहेंगे। पर कोई कुछ नहीं कहता। सब ऐसे नाटक कर रहे हैं, जैसे व्हील चेयर में एक लड़के को क्लास में आना कोई नई बात ही न हो। उसे इस बात से खुश होना चाहिए या परेशान शशांक की समझ में नहीं आता।"**[1]

यहाँ टीचर के मनोविज्ञान और शशांक के मनोविज्ञान दोनों को समझने की जरूरत है। पहले शशांक सिर्फ व्हील चेयर पर बिना टाइपराइटर लिए स्कूल जाता था। एक दिन जोसेफ (शिक्षक) शशांक से कहते हैं–**"माइ डियर बॉय, अगर तुम कुछ नहीं लिखोगे और न ही कुछ बोलोगे, तो तुम पढ़ोगे कैसे? आई मीन टू से, कि तुम 'पास' कैसे करोगे? यह तुम्हारा स्कूल का लास्ट ईयर है और एक साल भी नहीं है बोर्ड की परीक्षा में, कैसे काम चलेगा तुम्हारा?"**[2]

शशांक को आज जोसेफ मास्टर बहुत अच्छा लगता है। वह क्लास में खूब ध्यान देकर उनको सुनता है। लेकिन उसे जोसेफ की एक आदत बहुत खराब लगती है। वह शशांक को परीक्षा में अन्य विद्यार्थियों की अपेक्षा दो सवाल ज्यादा देता है। शशांक को इसका एतराज है। वह अपने आरती मौसी से जोसेफ की कहानी बताता है। वह कहता है–**"वह हर टेस्ट में मेरे लिए दो एक्स्ट्रा सवाल मेरे क्वेश्चन पेपर पर लिखकर रखता है। समझी तुम? सारे लड़कों से मुझे दो सवाल ज्यादा मिलते हैं। बाकी लड़कों को समझो कि आठ में से पाँच सवाल करने होते हैं तो मुझे दस में से पाँच करने होते हैं।"**[3] शशांक के ऊपर गुस्सा उफन रहा था।

मौसी पूछती है–**"लेकिन क्यों? जोसेफ ऐसा क्यों करता है। तुम्हें लिखने के लिए ज्यादा समय दे; यह तो ठीक है पर ज्यादा सवाल देने का क्या मतलब।"**[4]

---

1. *कोई बात नहीं, अलका सरावगी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पहला संस्करण-2004, पृ. सं.-158*
2. *वही, पृ. सं.-167*
3. *वही, पृ. सं.-96*
4. *वही, पृ. सं.-97*

इस पर शशांक का जवाब गौर करने लायक हैं। वह मौसी से कहता है—**"हो सकता है, वह समझता हो कि मुझे चलने-बोलने की प्रॉब्लम के अलावा कुछ दिमागी प्राब्लम भी है। यू नो, मेंटल रिटार्डेशन जैसी। या मुझे ज्यादा छूट देना वह एक महान काम समझता है।"**[1]

मौसी का चेहरा एकदम उतर गया—'ओफ, कितना मूर्ख है जोसेफ। तुम कुछ कहते क्यों नहीं उससे।" शशांक हंस पड़ा—क्या कहूँ? यह कि डियर सर, आप अपनी दया-माया गलत जगह खर्च कर रहे हैं? या कि सर, मेरा आई. क्यू. आपसे शायद ज्यादा ही है, कम नहीं; भले ही आपकी तरह मैथ्स से मुझे बिल्कुल प्रेम नहीं है। क्या कहूँ बताओ?

मौसी चुप रही। फिर अचानक धीरे से बोली—'कहीं वह तुम्हें ज्यादा नंबर भी तो नहीं दे देता? मेरा मतलब है.... ।'

हाँ तुम्हारा मतलब मैं समझ गया। मतलब कि मेरे बिना जवाब लिखे वह मुझे नंबर तो नहीं दे देता? ओह नो मौसी। जिस दिन वह ऐसा करेगा....शशांक बोलते-बोलते रूक गया। **"अभी तो मैं इतना ही कहता हूँ कि कभी उन दो एक्स्ट्रा सवालों के जवाब नहीं लिखता। बाकी लड़कों की तरह आठ में से ही पाँच सवाल करता हूँ। पर जिस दिन जोसेफ ऐसा करेगा, उस दिन मुझे न्याय पाने के लिए जीवन चांडाल को खोजना पड़ेगा।"**[2]

(जीवन चांडाल उपन्यास का एक कुख्यात पात्र है)

यह एक विकलांग किशोर मन की स्वतः प्रतिक्रिया है। शशांक जिस परिस्थिति से गुजरा है, वैसा प्रायः हर विकलांग के साथ होता है। नाहक ही संवेदना जाहिर करने के लिए और राहगीरो की सहानुभूति बटोरने के लिए शशांक जैसी ही संवेदना जाहिर करते देखे जा सकते हैं। आप पैर के घुटने में रबर का या चमड़े का गद्दा क्यों नहीं लगाते, आप ये क्यों नहीं करते, आप वो क्यों करते हैं जैसी सलाहें बिना मांगे ही आपको सड़क पर मिल जायेंगी। क्योंकि सलाह देना (पर उपदेश कुशल भई तेरे) बहुत आसान है। आप अगर इस जगह पर उनसे कहें कि उनके जीवन स्तर को सुधारने के लिए, उनकी आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए या फिर उसे समाज की

1. *कोई बात नहीं, अलका सरावगी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पहला संस्करण-2004, पृ. सं.-97*

2. *वही, पृ. :-97-98*

मुख्यधारा में लाने के लिए आप कौन सा प्रयास करेंगे? बहुत संभावना है कि इसका जवाब आपको नकारात्मक मिले।

शशांक भी इसी प्रकार की ओछी दया और सहानुभूति का शिकार है। इस ओछी हरकत से शशांक को कितना मानसिक संताप हो सकता है, इसे एक विकलांग ही समझ सकता है। जोसेफ मास्टर को चाहिए था कि वह क्लास के उन बच्चों को शशांक के प्रति 'सेनसिटाइज' करे जो इनको चिढ़ाया करते हैं। उसके प्रति स्कूल और क्लास में अनुकूल माहौल बनाये। शशांक इस बात को कैसे कह सकता है कि आप क्लास को मेरे प्रति 'सेनसिटाइज' करें। आखिर उसका भी अपना आत्मसम्मान और स्वाभिमान है। शशांक का जोसेफ के दो अतिरिक्त प्रश्नों का त्याग तथाकथित दया और सहानुभूति का त्याग है, जो उनके स्वाभिमान और इज्जत के अनुकूल है।

उपन्यासकार ने दिखलाया है कि अब शशांक डंडे के सहारे चलने लगा है। वह अब पहले की अपेक्षा स्वयं पर अधिक निर्भर होने लगा है। लेखिका ने लिखा है—"**शशांक अब अपने सारे काम खुद कर सकता है—नहाना धोना, खाना-पीना, कपड़े पहनना वगैरह-वगैरह। वह दीवारे और फर्नीचर पकड़कर इधर से उधर जा सकता है—माँ किसी को फोन पर बता रही है। उसकी आवाज में राहत है या अफसोस? शशांक समझ नहीं पाता। वह देखता है कि माँ उसे कभी-कभी बहुत अचंभे से देखती है—उस देखने में संतोष है या निराशा है, वह जान नहीं पाता।**"[1]

उपन्यास में शशांक भोक्ता के साथ-साथ द्रष्टा भी है। उपन्यासकार ने शशांक की किशोरावस्था का चित्रण कर विकलांगों की बाल अवस्था से लेकर किशोरावस्था तक की कठिनाइयों को दिखलाना चाहा है। इसमें वे सफल भी हुई हैं। कैसे उसे शारीरिक विकलांग के साथ-साथ मानसिक विकलांग समझ लिया जाता है और वह कैसे इससे प्रताड़ित होता है, उपन्यास में इसका जीवंत तथा यथार्थपरक चित्रण है।

उपन्यास का शीर्षक 'कोई बात नहीं' इसके कथानक के अनुकूल है। शशांक इस 'कोई

---

1. कोई बात नहीं, अलका सरावगी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पहला संस्करण-2004, पृ. सं.-218

बात नहीं' से लड़ता रहता है। आर्थर ने चिढ़ा दिया तो कोई बात नहीं।, जोसेफ ने दो प्रश्न अनुकंपा स्वरूप अधिक दे दिये तो कोई बात नहीं, किसी ने चिढ़ा दिया तो कोई बात नहीं। शशांक इस 'कोई बात नहीं' से हर संभाव उबरना चाहता है। लेकिन जितना वह इससे उबरना चाहता है उतना ही वह और अधिक इसमें धँसता जाता है। 'कोई बात नहीं' जैसे एक मंत्र है—हार न मानने की जिद और नई शुरुआतों के नाम। समय के ऐसे दौर में जब प्रतियोगिता जीवन का परम मूल्य है और सारे निर्णय ताकतवर और समर्थ के हाथ में है ऐसे में यह वेदना, जिजीविषा और सहयोग का आख्यान है।

तृतीय अध्याय

सूरदास की 'रंगभूमि'

सूरदास की 'रंगभूमि'

प्रेमचंद हिन्दी के उन कथाकारों में हैं, जिन्होंने रचना को किसी उद्देश्य से जोड़ा है उनका संपूर्ण रचना संसार किसी-न-किसी सामाजिक तथा राजनीतिक उद्देश्य और सरोकार को प्रतिध्वनित और प्रतिबिंबित करता है। उन्होंने रचना के क्षेत्र में एक नई चीज लायी, वह है—राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन। 'रंगभूमि' (1925 ई.) पर भी राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन का प्रभाव है। यह 1925 की रचना है। इस समय तक भारतीय स्वाधीनता आंदोलन में महात्मा गांधी का पर्दापण हो चुका था। वे आंदोलन को प्रभावित करने लगे थे। असहयोग आंदोलन अपने उफान पर था। कुछ आलोचक 'रंगभूमि' पर गाँधी के प्रभाव को स्वीकार करते हैं तो कुछ इसका विरोध। हिन्दी साहित्य के प्रमुख आलोचक प्रो. मैनेजर पांडेय इसे आंशिक रूप से स्वीकार करते हैं। उन्होंने 'अनभै साँचा' में लिखा है कि—**"गाँधीवाद से प्रेमचंद के संबंध पर हिन्दी में बहुत बहस हुई है। कहीं प्रेमचंद को सच्चा गाँधीवादी सिद्ध किया गया है तो कहीं गाँधीवाद का पक्का विरोधी। लेकिन वास्तविकता यह है कि वे न कभी अभिभूत गाँधीवादी थे और न कभी गाँधीवाद के एकदम विरोधी। वे गाँधी के राजनीतिक लक्ष्य देश की स्वाधीनता के समर्थक थे, लेकिन सत्याग्रह की पद्धति से निराश।"**[1]

प्रश्न उठता है कि 'रंगभूमि' उपन्यास के नायक सूरदास पर क्या गाँधी का प्रभाव है? यदि है तो किस रूप में? सूरदास के बारे में भी मैनेजर पांडेय ने 'अनभै साँचा' में लिखा है—**"प्रेमचंद प्रायः कर्मयोगी गाँधी से संवाद करते हैं और उनके वाद से विवाद। उनके संवाद की सर्वोत्तम रचनात्मक उपलब्धि है 'रंगभूमि' का सूरदास, जिसके चरित्र में असहयोग आंदोलन के नायक गाँधी के संघर्ष शील व्यक्तित्व की झलक है। उसके**

---

1. *अनभै साँचा, प्रो. मैनेजर पाण्डेय, पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2002, पृ. सं.-210*

संघर्ष में सत्याग्रह का प्रयोग, विचारों में हिन्द स्वराज की अनुगूँज और राजनीतिक दृष्टि में गाँधी की नैतिक चेतना की अभिव्यक्ति है। प्रेमचंद के अनुसार सूरदास के 'हृदय में धैर्य और क्षमा, सत्य और साहस का अगाध भंडार था, उसमें विनयशीलता और सहानुभूति भरी हुई थी। अन्याय देखकर उसे न रहा जाता था, अनीति उसके लिए असह्य थी। क्या सूरदास की ये विशेषताएँ गाँधी के व्यक्तित्व की विशेषताएँ नहीं हैं?''[1]

स्पष्ट होता है कि सूरदास के व्यक्तित्व पर गाँधी का प्रभाव था। भले ही बाद के उपन्यासों में यह कम होता गया। 'गोदान' में तो गाँधीवाद का नामोनिशान भी नहीं है। लेकिन रंगभूमि में उनका प्रभाव स्पष्ट दिखता है। 'प्रभाव' और 'अप्रभाव' के बीच बहुत ही सूक्ष्म अंतर है। 'रंगभूमि' में पूँजीवादी व्यवस्था के आगमन का चित्रण है। जॉन सेवक पूँजीवादी व्यवस्था का प्रतीक है। वह सूरदास के गाँव पांडेपुर में उनकी ही जमीन पर सिगरेट का कारखाना लगाना चाहता है। सूरदास इसका विरोध करता है, क्योंकि उसका मानना हे कि इससे गाँव में अनैतिकता तथा अराजकता फैलेगी। गाँव वाले भी उसका साथ छोड़ देते हैं। वह बिल्कुल अकेला पड़ जाता है। वह इस जीवन को कर्मभूमि और रंगभूमि मानकर अंत तक लड़ता है। उपन्यास इस नायक की कहानी कहता है।

सूरदास एक नेत्रहीन विकलांग पात्र है। बावजूद इसके वह नैतिकता और धैर्य की बदौलत संघर्ष करता है। प्रेमचंद ने इनका परिचय इस प्रकार करवाया है–**''बनारस में पांडेपुर ऐसी ही बस्ती है। वहाँ न शहरी दीपकों की ज्योति पहुँचती है, न शहरी छिड़काव के छींटे; न शहरी जलस्रोतों का प्रवाह। इन्हीं में एक गरीब और अन्धा चमार रहता है, जिसे लोग सूरदास कहते हैं। भारत वर्ष में अंधे आदमियों के लिए न नाम की जरूरत होती है, न काम की। सूरदास उनका बना-बनाया नाम है और भीख माँगना बना-बनाया काम।''**[2]

लेखक ने उसकी शारीरिक स्थिति और स्वभाव के बारे में भी लिखा है–**''सूरदास एक**

---

1. *अनभै साँचा, प्रो. मैनेजर पाण्डेय, पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2002, पृ. सं.-210*
2. *रंगभूमि - प्रेमचंद, मनोज पब्लिकेशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2005, पृ. सं.-05*

बहुत ही क्षीणकाय, दुर्बल और सरल व्यक्ति था। उसे दैव ने कदाचित भीख मांगने ही के लिए बनाया था। वह नित्य प्रति लाठी टेकता हुआ पक्की सड़क पर आ बैठता और राहगीरों की जान की खैर मनाता। 'दाता भगवान तुम्हारा कल्याण करें।' यही उसकी टेक थी;....पैदल चलने वालों को वह अपनी जगह पर बैठे-बैठे दुआएँ देता था। लेकिन जब कोई इक्का आ निकलता, तो वह उसके पीछे दौड़ने लगता, और बग्घियों के साथ तो उसके पैर में पर लग जाते थे।...प्रातःकाल से संध्या तक उसका समय शुभकामनाओं ही में कटता था।''[1]

अचानक सूरदास को एक गाड़ी की आवाज सुनाई देती है। गाड़ी जॉन सेवक की है। साथ में उनकी पत्नी मिसेज जॉन सेवक; पुत्र प्रभु सेवक और पुत्री सोफिया है। ये लोग अपने गोदाम पर जा रहे थे। सूरदास पैसे की आस में उसके पीछे दौड़ने लगता है। दौड़ते-दौड़ते वह गोदाम तक पहुँच जाता है। प्रभु सेवक और सोफिया को सूरदास पर तरस आता है। लेकिन देने के लिए उनके पास खुले पैसे नहीं है। उलटे जॉन सेवक और मिसेज सेवक सूरदास का मजाक भी उड़ाते हैं। सूरदास को कुछ भी हाथ नहीं लगता। जॉन सेवक जब कुछ दूर चला जाता है तो गोदाम का मुनीम ताहिर अली उन्हें आवाज देकर रोकता है। वह जॉन सेवक को बताता है कि पास की जमीन इसी सूरदास की है। वह सूरदास से अपमान के लिए क्षमा मांगता है और उसकी खूब प्रशंसा करता है। वह कहता है तुम तो राजा हो भीख क्यों मांगते हो। वह सूरदास से मुँह मांगे दाम पर जमीन खरीदने का प्रस्ताव रखता है। सूरदास को जॉन सेवक के इस बदले व्यवहार पर आश्चर्य होता है। वह मन-ही-मन जॉन सेवक की चालाकी पर सोचता है—**''यह है बड़े आदमियों की स्वार्थपरता। पहले कैसे हेकड़ी दिखाते थे, मुझे कुत्ते से भी नीचा समझा, लेकिन ज्यों ही मालूम हुआ कि जमीन मेरी है, कैसी लल्लो-चप्पो करने लगे। इन्हें मैं अपनी जमीन दिए देता हूँ। पाँच रुपये दिखाते थे, मानो मैंने रुपये देखे ही नहीं। पाँच तो क्या, पाँच सौ भी दे, तो भी जमीन न दूँगा। मुहल्ले वालों को कौन मुँह दिखाऊँगा। इनके कारखाने के लिए बेचारी गऊएँ मारी-मारी फिरें।''**[2]

1. *रंगभूमि - प्रेमचंद, मनोज पब्लिकेशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2005, पृ. सं.-05*
2. *वही, पृ. सं.-11*

इस भीष्म प्रतिज्ञा के साथ सूरदास गाँव लौट आता है। उस पर कई तरह की विपत्तियाँ आती है, लेकिन वह हारता नहीं। वह गाँव के सभी प्रमुखों का मन टटोलता है। ठाकुरदीन के पास जाकर कहता है–"**चमड़े के गोदाम वाला साहब यहाँ एक तम्बाकू का कारखाना खोलने जा रहा है। मेरी जमीन मांग रहा है। कारखाने का खुलना ही हमारे ऊपर विपत्ति का आना है।**"[1]

अपनी शंका जताते हुए वह कहता है–"**मेरे देने पर थोड़े ही भाई, मैं दूँ, तो भी जमीन निकल जाएगी, न दूँ, तो भी निकल जाएगी। रुपये वाले सब कुछ कर सकते हैं।**"[2] गाँव के सभी लोग सूरदास को साथ देने का वचन देते हैं। बजरंगी का गाय इसमें चरती है, इसलिए वह सूरदास का साथ देता है तो पूजा के दिनों में नायक राम का पंडाल इसी ज़मीन पर लगता हैं। गाँव का यह सार्वजनिक स्थल जैसा है, जिससे सभी का काम चलता है। इस कारण सभी का इससे स्वार्थ जुड़ा है। लेकिन सूरदास का इस ज़मीन से न तो कोई व्यक्तिगत लाभ है, न दूरगामी। वह समाज सेवा के लिहाज से जमीन छोड़ देता है। वह जो भी करता है परोपकार के लिए करता है। जबकि उपन्यास के अन्य पात्र जो भी करते हैं अपने स्वार्थों के लिए करते है। सूरदास का यही गुण उसे अन्य पात्रों से अलग भी करता है और महान भी बनाता है। सूरदास के संपूर्ण व्यक्तित्व को तीन स्तरों में बाँट कर समझा जा सकता है–

(i) एक सामान्य विकलांग के रूप में सूरदास।

(ii) नैतिकता, त्याग और धैर्य के बल पर प्रतिष्ठित सूरदास।

(iii) देवता के रूप में सूरदास।

उपन्यास के चौथे परिच्छेद में सूरदास अपनी विकलांगता से जूझता हुआ चित्रित किया गया है। यहाँ उसकी विकलांगता दैनिक कार्य तथा जीवन यापन में बाधक है। यहीं उसे महसूस होता है कि मैं विकलांग हूँ। विकलांगों को छेड़ना, मजाक उड़ाना, गाली देना व्यक्ति अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझता है। यदि बड़े लोग ऐसे कर सकते हैं, तो बच्चे क्यों नहीं? प्रेमचंद

---

1. *रंगभूमि - प्रेमचंद, मनोज पब्लिकेशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2005, पृ. सं.-18*
2. *वही, पृ. सं.-18*

ने लिखा हैं–"चंचल प्रकृति बालकों के लिए अंधे विनोद की वस्तु हुआ करते हैं। सूरदास को उनकी निर्दय बाल-क्रीड़ाओं से इतना कष्ट होता था कि वह मुँह अंधेर घर से निकल पड़ता और चिराग जलने के बाद लौटता। जिस दिन उसे जाने में देर होती, उस दिन विपत्ति में पड़ जाता था। सड़क पर राहगीरों के सामने, उसे कोई शंका न होती थी, किन्तु बस्ती की गालियों पर पग-पग पर किसी दुर्घटना की शंका बनी रहती थी। कोई उसकी लाठी छीनकर भागता, कोई कहता–सूरदास, सामने गड्ढ़ा है, बायीं तरफ हो जाओ। सूरदास बाएँ घूमता, तो गड्ढे में गिर पड़ता।"[1]

सूरदास को ज्यादा तंग बजरंगी का बेटा घीसू करता था। वह इतना दुष्ट था कि सूरदास को छेड़ने के लिए घड़ी भर रात रहते जग जाता था। उसकी लाठी छीनकर भागने में उसे बड़ा आनंद मिलता था। एक दिन की घटना है। सूरदास बड़े सबेरे ही घर से निकले। घीसू पहले से ही एक तंग गली में छिपा था। घीसू ने उनका डंडा छीनना चाहा, लेकिन सूरदास को पहले ही भान हो गया था कि कुछ गड़बड़ होने वाली है। वह अपने डंडे को मजबूती से पकड़े था। डंडा हाथ से नहीं छूटा। घीसू गिर पड़ा। माथे पर चोट लगी और खून बहने लगा। वह रोता-धोता घर पहुँचा और अपनी बहादुरी का वृतांत माँ को सुनाया। इसी बीच सूरदास भी सफाई देने वहाँ आ पहुँचा। घीसू की माँ जमुनी सूरदास पर बरस पड़ी और उलाहने भरे शब्दों में कहने लगी। सूरदास क्षमाप्रार्थी की मुद्रा में खड़ा हो गया और याचना भरी मुद्रा में कहने लगा–"भगवान जानते हैं, जो मैंने घीसू को पहचाना हो। समझा कोई लौंडा होगा, लाठी को मजबूत पकड़े रहा। घीसू का हाथ फिसल गया, गिर पड़ा। मुझे मालूम होता कि घीसू है, तो उसे लाठी दे देता। इतने दिन हो गए, लेकिन कोई कह दे कि मैंने किसी लड़के को झूठ-मूठ मारा है। तुम्हारा ही दिया खाता हूँ, तुम्हारे ही लड़के को मारूँगा।"[2]

सूरदास की इस स्वीकारोक्ति के बाद भी जमुनी का गुस्सा शांत नहीं हुआ। वह उलाहना

---

1. *रंगभूमि - प्रेमचंद, मनोज पब्लिकेशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2005, पृ. सं.-45*
2. *वही, पृ. सं.-45*

भरे शब्दों में कहने लगी–"**नहीं अब तुम्हें घमंड हो गया है; भीख मांगते हो, फिर भी लाज नहीं आती, सबकी बराबरी करने को मरते हो। आज मैं लहू की घूँट पीकर रह गई, नहीं तो जिन हाथों से तुमने उसे धकेला है, उसमें लूका लगा देती।**"[1]

गाँव में एक कहावत प्रचलित है–'निमला के मौगी सबकी भौजी।' सूरदास पर यह सच चरितार्थ होती है। भैरो ताड़ी उतारने जा रहा था। सूरदास को कमजोर देखकर वह भी बरस पड़ा। वह भी उलाहने भरे शब्दों में कहने लगा–"**सब रोजगारों से अच्छा है भीख मांगना। अभी चार दिन पहले घर में भूजी भांग न थी, अब चार पैसे के आदमी हो गए हैं। पैसे होते हैं, तभी घमंड होता है, नहीं क्या घमंड करेंगे हम और तुम।**"[2]

जगधर औरों से तो भीगी बिल्ली बना रहता था। सूरदास को धिक्कारने के लिए वह भी घर से निकल पड़ा। यानी चारों ओर से सूरदास को अपमानित किया जाने लगा। जगधर और भैरों की बात सुनकर वह और भी दुखी हो गया।

वास्तव में यह दुख की बात ही है। इस घटना पर सहानुभूति से उठकर न्यायिक धरातल पर सोचा जाय तो सूरदास रत्ती भर दोषी नहीं है। घीसू को डांट पड़नी चाहिए थी उसकी माता की ओर से। लेकिन वह उल्टे सूरदास को डाँटती है। उसे भिखमंगा कहती है। विकलांग यदि बराबरी करे तो गलत। वह किसी से प्रतियोगिता करे तो यह उसकी हेंठी मानी जाती है।

सूरदास का जब मजाक उड़ाया जा रहा होता है उसी समय मिठुआ कहीं से आ जाता है। चाचा की इस स्थिति को देखकर वह जगधर और भैरों को स्वरचित पदों से चिढ़ाने लगता है। भैरों को इससे गुस्सा आ जाता है। वह मिठुआ को पीट देता है। मिठुआ के रोने की आवाज सुनकर सूरदास का स्वाभिमान जाग जाता है। अब तक वह दीनभाव से सिर झुकाये खड़ा था। सहसा वह बोल उठा–"**भैरों, भला चाहते हो, तो उसे छोड़ दो, नहीं तो ठीक न होगा। उसने तुम्हें कौन सी बातें गोली मार दी थी कि उसकी जान लिए लेते हो। क्या समझते हो उसके सिर पर कोई है ही नहीं। जब तक मैं जीता हूँ, कोई उसे तिरछी निगाह से**

---

1. *रंगभूमि - प्रेमचंद, मनोज पब्लिकेशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2005, पृ. सं.-45*
2. *वही, पृ. सं.-46*

नहीं देख सकता। दिलावरी तो जब देखता कि किसी बड़े आदमी से हाथ मिलाते। इस बालक को पीट लिया तो कौन सी बहादुरी दिखायी?"[1]

इस पर भैरों जवाब देते हुए कहा कि–**"मार की इतनी अखर है तो उसे रोकते क्यों नहीं? हमको चिढ़ाएगा, तो हम पीटेंगे–एक बार नहीं, हजार बार, तुमको जो करना हो, कर लो।"**[2]

इस पर मिठुआ का हाथ पकड़कर सूरदास ने कहा–मिठुआ, चिढ़ा तो, देखूँ यह क्या करते हैं। लेकिन मिठुआ भैरों का रौद्र रूप देखकर सहम गया। मार से मुँह भी सूज गया था। बढ़ावा देने पर भी जब मिठुआ से नहीं चिढ़ाया गया तो सूरदास ही चिढ़ाने लगा। सूरदास का यह बाल-हठ देखकर सभी हँसने लगे। सूरदास को अपनी विकलांगता पर पहली बार निराशा हुई। प्रेमचंद ने लिखा है–**"अब सूरदास को ज्ञात हुआ कि मैं कितना दीन और बेबस हूँ। मेरे क्रोध का यह सम्मान है। मैं सबल होता, तो मेरा क्रोध देखकर ये लोग थर-थर काँपने लगते, नहीं तो खड़े हँस रहे हैं, समझते हैं कि हमारा कर ही क्या सकता है। भगवान ने इतना अपंग न बना दिया होता, तो क्यों यह दुर्गत होती। अपने अंधेपन पर आज उसे जितना दुख हो रहा था, उतना और कभी न हुआ था। यह सोचकर हठात् उसे रोना आ गया।"**[3]

प्रेमचंद ने भी लिखा कि सूरदास जिंदगी में पहली बार इतना अपमानित हुआ है। उसे पहली बार अपनी विकलांगता जनित विवशता पर दुख होता है। जब वह जगधर को चिढ़ाता है तो वह एक बालक से भी नीचे गिर जाता है। वह सार्वजनिक उपहास का पात्र बन जाता है। समाज की मानसिकता भी ऐसी है कि वह विकलांग को विकलांगता के लिए विवश कर देती है। भीखमंगा कहा जाता है। यह उसके लिए सबसे अधिक कष्टदायक है। नाराज होकर वह इसका विकल्प ढूँढ़ता है। वह किसी के घर पंखा खींचना चाहता है, लेकिन यह काम साल में चार महीने ही मिल सकता है। वह कुर्सी मोढ़े, दरी, टाट आदि बुनना चाहता है लेकिन वह

---

1. *रंगभूमि - प्रेमचंद, मनोज पब्लिकेशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2005, पृ. सं.-46*
2. *वही, पृ. सं.-47*
3. *वही, पृ. सं.-47*

बुनना नहीं जानता। चारों तरफ से निराश होकर वह अपनी जमीन ही जॉन सेवक को बेच देना चाहता है। वह सोचता है कि जिस समाज की भलाई के लिए हमने जमीन छोड़ रखी है, उसी समाज में उसी के द्वारा हमारा उपहास। वह सोचता है कि जमीन बेचकर सेठ की तरह बैठा हुआ चैन की बंशी बजाऊँगा। चार आदमी घेरे रहेंगे मुहल्ले में अपना मान होने लगेगा। ये लोग, जो आज मुझ पर रोब जमा रहे हैं, मेरा मुँह जोहेंगे, मेरी खुशामद करेंगे।

सूरदास यही सोचता हुआ गोदाम जाने के लिए झोपड़ी से निकला कि गोदाम के पास दयागिरि मिल गया। वह बात समझ गया। टोककर पूछा तो सूरदास ने सारी बातें बता दी। जब मुहल्ले वाले मेरी इज्जत ही नहीं करते तो हम कहाँ तक निबाह करेंगे। दयागिरि सूरदास को समझाता है कि जमीन से तुम्हें पुण्य मिलेगा। गायें चरेंगी तो इससे अगला जनम सुधरेगा। लेकिन सूरदास का गुस्सा शांत नहीं होता। व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी होता है। सूरदास भी एक सामाजिक प्राणी है; लेकिन स्वाभिमान और इज्जत सबसे ऊपर है। इस कारण वह गोदाम के गुमाश्ता ताहिर अली से मिलता है। वह चाह कर भी जमीन बेचने की बात उससे नहीं करता। प्रश्न उठता है कि वह कौन सी चीज है जो सूरदास को जमीन बेचने से रोकती है? आखिर इतना अपमानित होने के बाद भी वह जमीन क्यों नहीं बेचता? क्या यह उसकी कायरता मानी जाएगी? वह हमेशा धर्म की बात क्यों करता है? इत्यादि। ताहिर अली उसे व्यवहारिक तथा व्यवसायिक पाठ पढ़ाता है; लेकिन यह उसके दिमाग को नहीं जँचता। ताहिर अली अंतिम पाशा फेंकते हुए कहता है–**"साहब तुम्हारी आँखों की दवा करा देंगे, मुमकिन है, सूझने लगे। आदमी बन जाओगे, नहीं तो धक्के खाते रहोगे?"**[1]

आँखों के प्रलोभन पर सूरदास कुछ नरम पड़ता है। उपन्यासकार ने लिखा है–**"सूरदास पर और किसी प्रलोभन का असर तो न हुआ, हाँ दृष्टि लाभ की संभावना ने जरा नरम कर दिया। बोला–क्या जनम के अंन्धों की दवा भी हो सकती है?"**[2]

लेकिन ताहिर अली जब जनम के अंधे का कोई इलाज होने से मना करता है तो सूरदास

---

1. *रंगभूमि - प्रेमचंद, मनोज पब्लिकेशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2005, पृ. सं.-50*
2. *वही, पृ. सं.-50*

फिर अपने पुराने सिद्धांत पर लौट जाता है। सूरदास वास्तव में अपनी आँख बनवाना चाहता है। यह किसी भी विकलांग की नैसर्गिक इच्छा होती है। आँख न होने के कारण ही तो उन्हें इतना कष्ट उठाना पड़ता है।

इधर जॉन सेवक सूरदास पर प्रभाव डालने के लिए राजा साहब से सांठ-गांठ बढ़ाता है। राजा साहब उनकी बातों में आकर सूरदास से मिलते हैं। सूरदास के मन में तरह-तरह की शंकाएँ उठ रही हैं–"**क्या साहब ने इनको यह जमीन देखने के लिए भेजा है? सुना है, यह बड़े धर्मात्मा पुरुष हैं, तो इन्होंने साहब को समझा क्यों न दिया?....मेरा इतना आदर कर रहे हैं जैसे बकरे की गर्दन कटने से पहले उसे भर-पेट दाना खिला देते हैं, लेकिन मैं इनकी बातों में आने वाला नहीं हूँ।**"[1]

सूरदास जैसा विकलांग राजा को जमीन बेचने से इनकार कर देता है। यह एक सत्ता की अवहेलना भी है और अवमानना भी। लेकिन सूरदास यह सत्य और न्याय के लिए करता है। उनकी सत्यता, न्यायप्रियता और समाजपरकता से राजा साहब भी प्रभावित हो जाते हैं और उसके संरक्षक और समर्थक बन जाते हैं। यह सूरदास की जीत है। यह एक विकलांग की जीत है। अपने आदर्श और सिद्धांत की बदौलत वह विकलांगता से भी ऊपर उठ जाता है। अब उसका आदर तथा सम्मान गाँव के लोग भी करने लग गये। कई लोग तो उससे डरने भी लगे। सूरदास के तर्क के सामने राजा निरुत्तर हो जाते हैं और उन्हें मानना पड़ता है कि सूरदास जो कह रहा है वही सच है। सूरदास जानता है कि सिगरेट की फैक्ट्री लग जाने से यहाँ का वातावरण विषाक्त हो जाएगा। बच्चे भी सिगरेट पीने लगेंगे, ताड़ी और दारु का दौर चलने लगेगा। इससे यहाँ की औरतों की आबरू पर हमेशा खतरा बना रहेगा। वह जमीन न बेचने के पीछे राजा को यही तर्क देता है–"**सरकार, गरीब की घर वाली गाँव घर की भावज होती है। साहब किरस्तान है, धरमशाले में तमाकू का गोदाम बनाएंगे, मंदिर में उनके मजूर सोएँगे, कुएँ पर उनके मजूरों का अड्डा होगा, बहू-बेटियाँ पानी भरने न जा**

---

1. *रंगभूमि - प्रेमचंद, मनोज पब्लिकेशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2005, पृ. सं.-54*

सकेंगी। साहब न करेंगे, साहब के लड़के करेंगे। मेरे बाप दादों का नाम डूब जाएगा। सरकार मुझे इस दलदल में न फँसाइए।"[1]

राजा साहब सूरदास के इस विचार से अति प्रसन्न होते हैं। वह कहते हैं–**"ठीक कहते तो सूरदास, बहुत ठीक कहते हो। तुम जीते, मैं हार गया।"**[2]

राजा साहब खुश होकर सूरदास को एक रुपया देते हैं। सूरदास को एक रुपया दिया जाना, न तो भीख है और न ही मजूरी, बल्कि उत्तम सोच रखने के लिए दिया गया सम्मान है। यानी अच्छी सोच और व्यवहार व्यक्ति को विकलांगता से ऊपर उठा सकते हैं।

सूरदास को नैतिक और चरित्रगत परीक्षाओं से भी गुजरना पड़ता है। घटना इस प्रकार है। गाँव का भैरों पासी अपनी पत्नी सुभागी को दारू और ताड़ी के नशे में खूब पीटा करता है। भैरो इसके लिए पूरे गाँव में बदनाम है। उसके गुस्सालू स्वभाव के कारण गाँव वाले भी हस्तक्षेप नहीं करते। सुभागी को जब भी मारता है वह बचने के लिए सूरदास की झोपड़ी में चली आती है। बार-बार इस तरह से आने से भैरों और गाँव वाले को शंका होने लगती है। एक रात किसी बात पर भैरो सुभागी को पीटने लगा। वह भागी और किसी दुकान के पीछे छिप गई। भैरो ने बहुत ढूँढ़ा वह नहीं मिली। वह घर लौट गया और किवाड़ बंद कर सो गया। इधर सुभागी परेशान थी। वह सोचती है इस समय जाऊँगी तो भैरो मुझे खूब मारेगा। बचने के लिए वह बजरंगी के घर जाती है। उन्होंने यह कहते हुए मना कर दिया कि–**"ना, बाबा, मैं यह रोग नहीं पालता। खोटा आदमी है, कौन उससे रार मोल ले।"**[3] ठाकुर दीन का द्वार बंद था। वह सूरदास के घर जाती है। देखती है सूरदास बैठा खाना पका रहा था। सुभागी उसकी झोपड़ी में चली गई और बोली–**"सूरे आज रात भर मुझे पड़े रहने दो, मारे डालता है, अभी जाऊँगी, तो एक हड्डी भी न बचेगी।"**[4] सूरदास यह कहते हुए उसे रख लेता है–**"आओ लेट रहो, भोरे चली जाना। अभी नशे में होगा।"**[5]

---

1. *रंगभूमि - प्रेमचंद, मनोज पब्लिकेशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2005, पृ. सं.-64*
2. *वही, पृ. सं.-65*
3. *वही, पृ. सं.-91*
4. *वही, पृ. सं.-91*
5. *वही, पृ. सं.-91*

सूरदास कई बार शरण देकर सुभागी को बचाता है। जब कभी भी सुभागी पर कोई विपत्ति पड़ती है सूरदास के यहाँ चली जाती है। गाँव के कई लोगों ने सुभागी को इस तरह उसके यहाँ जाते दे रखा है। सूरदास के शरणागत वत्सलता के कारण सुभागी को उससे स्नेह भी होने लगा था। यह मानवीय स्वभाव है। किसी सहायता के बाद व्यक्ति सहायता करना चाहता है। लेखक ने लिखा है–**"जब अवकाश पाती, तो उसके पास जा बैठती, कभी-कभी उसके घर में झाड़ू लगा जाती, कभी घर वालों की आँख बचाकर उसे कुछ दे जाती, मिठुआ को अपने घर बुला ले जाती और उसे गुड़-चबेना खाने को देती।"**[1]

भैरो यह सब देखकर सुभागी को और भी पीटता। उसकी शंका दिन प्रतिदन और भी बढ़ती चली जाती। एक दिन की घटना है भैरो सुभागी को किसी बात पर पीटने लगा। वह भागी और सूरदास की झोंपड़ी में घुस गई। भैरो भी पीछे दौड़ा चला आया। वह झोपड़ी में घुसना चाहता था ताकि सुभागी को खींचकर निकाला जा सके। इस पर सूरदास ने भैरो को रोकना चाहा। भैरो फट पड़ा। वह गुस्से में बोला–**"द्वार से हट जाओ, नहीं तो पहले तुम्हारी हड्डियाँ तोड़ूँगा, सारा बगुलाभगत निकल जाएगा। बहुत दिनों से तुम्हारा रंग देख रहा हूँ; आज सारी कसर निकाल लूँगा। ऐसे पापी न होते, तो भगवान ने आँखे क्यों फोड़ दी होती।"**[2]

सूरदास सुभागी को बचाना चाहता था। वह भैरो से बोला–**"मेरा क्या छैलापन तुमने देखा? बस यही न कि मैंने सुभागी को घर से निकाल नहीं दिया? मेरे घर में तुम उसे न मार पाओगे, यहाँ से चली जाए तो चाहे जितना मार लेना।"**[3]

शोरगुल सुनकर आसपास के लोग भी जुट गए। नायक राम ने मजाक करते हुए कहा–**"क्यों सूरे, अच्छी सूरत देखकर आँखे खुल जाती हैं, क्या मुहल्ले ही में।"**[4] बजरंगी ने सूरदास का बचाव भी किया, लेकिन नायकराम मानने वालों में नहीं थे। उन्होंने फिर

---

1. *रंगभूमि - प्रेमचंद, मनोज पब्लिकेशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2005, पृ. सं.-91*
2. *वही, पृ. सं.-91*
3. *वही, पृ. सं.-91*
4. *वही, पृ. सं.-92*

व्यंग्य करते हुए कहा–"**सुभा होने की बात ही है। अंधा आदमी देवता थोड़े ही होता है, और फिर देवता लोग भी तो काम के तीर से नहीं बचे। सूरदास तो फिर भी आदमी है, और फिर उम्र ही क्या है?**"[1]

सूरदास इन व्यंग्य बाणों से तिलमिला उठता है। अपनी सफाई देते हुए वह नायक राम से कहता है–"**पंडा जी, अगर तुम भी मुझसे ऐसी बातें करोगे तो मैं मुँह में कालिख लगाकर कहीं निकल जाऊँगा। मैं परायी स्त्री को अपनी माता, बेटी और बहन समझता हूँ। जिस दिन मेरा मन इतना चंचल हो जाएगा, तुम मुझे जीता न देखोगे। भैरो रोज उसे मारता है। बिचारी कभी-कभी मेरे पास आकर बैठ जाती है। मेरा अपराध इतना ही है कि मैं उसे दुत्कार नहीं देता इसके लिए चाहे कोई बदनाम करे, चाहे जो इल्जाम लगाए। मेरा जो धरम था, वह मैंने किया। बदनामी के डर से जो आदमी धरम से मुँह फेर ले वह आदमी नहीं है। मैं तुमसे सच कहता हूँ, आज मुझे जितना दुख हो रहा है, उतना दादा को मरने पर भी न हुआ था।**"[2]

सूरदास का यह विचार कितना पवित्र, उत्तरदायित्वपूर्ण और समाजोन्मुख है। लेकिन सूरदास की यही भलमनसाहत और शरणागत वत्सलता उसे बदनाम कर देती है। सुभागी को अपने यहाँ शरण देने के पीछे न तो मौके का फायदा उठाकर उसका शारीरिक शोषण करने का भाव है और न ही उससे भविष्य कि किसी प्रकार की सहायता पाने का भाव। लेकिन समाज इसे गलत रूप में लेता है। उसके चरित्र पर शक किया जाता है। प्रश्न किया जा सकता है कि सूरदास इन सारी बदनामियों को झेलते हुए भी ऐसा क्यों करता है? इसे विकलांगों के मनोविज्ञान की दृष्टि से देखने की जरूरत है। प्रायः विकलांग समाज से कटा रहता है। इस स्थिति में जब उन्हें कोई सामाजिक उत्तरदायित्व या परोपकार का कार्य मिलता है तो वह आवश्यकता से अधिक उत्साह लेकर उसमें भाग लेता है। सूरदास का सुभागी को बचाना इसी भावबोध को प्रतिबिंबित करता है। दूसरा कारण है–शरणागत वत्सलता। यह भारतीय सभ्यता

---

1. *रंगभूमि - प्रेमचंद, मनोज पब्लिकेशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2005, पृ. सं.-92*
2. *वही, पृ. सं.-94*

और संस्कृति का अभिन्न अंग है। दुश्मन भी यदि पनाह मांगे तो भारतीय संस्कृति उन्हें शरण देने का सलाह देती है। उपन्यास से पता चलता है कि सूरदास चारित्रिक-शुचिता और नैतिकता पर अधिक बल देता है। उसे लगता है कि यदि सुभागी को रात में जगह नहीं देते हैं तो सुभागी के इज्जत और अस्मत पर भी खतरा आ सकता है। यह सोचकर भी सूरदास उसे शरण देता है।

भैरो सूरदास का मुकाबला आमने-सामने से नहीं कर पाता तो हारकर वह एक दिन सूरदास की झोंपड़ी में आग लगा देता है। पाई-पाई कर जमा किए गए पाँच सौ रुपये भी चुरा लेता है। आत्मसंतुष्टिवश अपने मित्र जगधर को वह सारी बात बता देता है। सूरदास राख में अपने रुपये की पोटली को ढूँढ़ता है, लेकिन कुछ हाथ नहीं लगता। वह सोचता है—"**धन गया, घर गया, आबरू गयी, जमीन बच रही है, यह भी न जाने, जाएगी या बचेगी। अन्धापन ही क्या थोड़ी बिपत थी कि नित ही एक-न-एक चपत पड़ती रहती है। जिसके जी में आता है, चार-खोटी-खरी सुना देता है।**"[1]

निराशा और हताशा की इस स्थिति में वह अपनी विकलांगता को कोसते हुए रोने लगता है। अचानक उसके कानों में आवाज आती है—'तुम खेल में रोते हो। दूसरी ओर मिठुआ घीसू से मिटकर रोते हुए आता है। घीसू मिठुआ को चुनौती देते हुए कहता है—'तुम खेल में रोते हों।' यह सुनकर सूरदास को आभास होता है कि लड़के भी (बच्चे भी) खेल में रोना बुरा समझते हैं। यह छोटे से वाक्य सूरदास को धैर्य और शक्ति प्रदान करता है। इस वाक्य में चुनौती भी है और सहानुभूति भी। वह जीवन के वास्तविक अर्थ को समझता है। वास्तव में प्रत्येक व्यक्ति का जीवन एक खेल होता है और व्यक्ति खिलाड़ी। सूरदास इस जीवन के खेल में हमेशा न्याय, ईमानदारी, नैतिकता और अहिंसा का सहारा लेकर लड़ता है। झूठ और फरेब का कोई स्थान नहीं है।

सूरदास की झोंपड़ी जलाने के बाद भी भैरो को शांति नहीं मिलती। वह सूरदास पर न्यायालय में आरोप लगाता है। सूरदास से न्यायालय में पूछा जाता है कि आपने सुभागी को

---

1. रंगभूमि - प्रेमचंद, मनोज पब्लिकेशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2005, पृ. सं.-100

अपने यहाँ क्यों रखा? सूरदास साहसपूर्वक जवाब देता है कि–"**हाँ रख लिया है, जैसे भाई अपनी बहन को रख लेता है, बाप बेटी को रख लेता है। अगर सरकार ने जबरदस्ती मेरे घर से निकाल दिया, तो उसकी आबरू की जिम्मेदारी उसी के सिर होगी।**"[1]

इस स्पष्टीकरण के बावजूद अदालत सूरदास पर दो सौ रुपये का जुर्माना लगाती है। सूरदास इस फैसले की अपील करना चाहता है। मना करने पर वह जनता की अदालत में आता है। दर्शकों की ओर मुँह घुमाकर उच्च स्वर में कहने लगता है–"**मेरी अपील पंचों से होगी। एक आदमी के कहने से मैं अपराधी नहीं हो सकता, चाहे वह कितना ही बड़ा आदमी हो। हाकिम ने सजा दे दी, सजा काट लूँगा, पर पंचों पर फैसला भी सुन लेना चाहता हूँ।**"[2]

वह आगे कहता है–"**दुहाई हो पंचों, आप इतने आदमी जमा हैं। आप लोगों ने भैरो और उसके गवाहों के बयान सुने, मेरा और सुभागी का बयान सुना, हाकिम का फैसला भी सुन लिया।...क्या आप भी मुझे अपराधी समझते है।? क्या आपको विश्वास आ गया कि मैंने सुभागी को बहकाया और अब अपनी पत्नी बनाकर रखे हुए हूँ? अगर आपको विश्वास आ गया है, तो मैं इसी मैदान में सिर झुकाकर बैठता हूँ,? आप लोग मुझे पाँच-पाँच लात मारें। अगर मैं लात खाते-खाते मर भी जाऊँ, तो मुझे दुःख न होगा। ऐसे पापी का यही दण्ड है। कैद से क्या होगा। और अगर आपकी समझ में बेकसूर हूँ, तो पुकार का यह दीजिए, हम तुझे निरपराध समझते हैं। फिर मैं कड़ी-से-कड़ी कैद भी हंसकर काट लूंगा।**"[3]

जनता की अदालत में सूरदास की इस अपील के उत्तर में हजारों कंठ से एक स्वर ध्वनि फूट पड़ी–"**तुम बेकसूर हो, हम सब तुम्हें बेकसूर समझते हैं।**"[4]

यह एक सत्ता की हार और नैतिकता के प्रतीक सूरदास जैसे नेत्रहीन विकलांग की जीत

---

1. *रंगभूमि - प्रेमचंद, मनोज पब्लिकेशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2005, पृ. सं.-276*
2. *वही, पृ. सं.-277*
3. *वही, पृ. सं.-277*
4. *वही, पृ. सं.-277*

है। सूरदास की इस नैतिकता की तुलना 'मैला आँचल' के बामनदास से की जा सकती है। सूरदास का चरित्र यहाँ गाँधी से भी मिलता है। महात्मा गाँधी भी नैतिकता पर बड़ा बल देते थे। दक्षिण अफ्रीका जाते समय गाँधी जी को जंजीबार उतरना था। जहाज पर कप्तान मित्रतावश उन्हें वेश्यालय ले गया। गाँधी ने उस उधेड़बुन के बारे में अपनी आत्मकथा 'सत्य के प्रयोग' में लिखा है–"**कप्तान क्या जाने कि मैं ऐसे मामलों में बिल्कुल अनजान हूँ? हम हब्शी औरतों के बाड़े में पहुँचे। हममें से हर-एक एक कोठरी में घुसा। मैं तो मारे शरम के वहाँ गठरी बना बैठा रहा। उस स्त्री बेचारी ने क्या सोचा होगा, यह तो वही जाने। कप्तान ने आवाज दी। मैं तो जैसा अन्दर घुसा था वैसा ही बाहर निकल आया। कप्तान मेरा भोलापन समझ गया।**"[1]

यह हुई नैतिकता गाँधी की सूरदास भी सुभागी को अपने यहाँ शरण का है नैतिकतावश ही देता है। सूरदास के लिए जुर्माने के 200 सौ रुपये गाँव और शहर वाले जुटाते हैं। क्योंकि उसने जनता की अदालत में सिद्ध कर दिया है कि मैं निर्दोष हूँ। भैरो को यह सब देखकर आश्चर्य होता है। वह मानता था कि सूरदास को कठोर सजा मिलेगी, लेकिन वह तो निर्दोष साबित हो गया। बाद में भैरो को अपनी गलती महसूस होती है। इसके पहले सूरदासे उसके द्वारा चुराये रुपये को भैरो को लौटा देता है। यद्यपि रुपया सूरदास का है लेकिन यह उसकी महानता है कि वह रुपया भैरो को लौटा देता है। यह सब जानकर और देखकर भैरो को स्वयं पर पश्चाताप होता है। वह अपनी आत्मा की आवाज को पहचानता है। उसकी ईर्ष्या, द्वेष और घृणा क्षण भर में काफूर हो जाते हैं। वह जगधर से कहता है–"**मुझे ऐसा जान पड़ता है कि हमने हक नाहक उस पर कलंक लगाया। सुभागी आज सबेरे आकर मेरे पैरों पर गिर पड़ी और तब से बाहर नहीं निकली। सारे दिन अम्मा की सेवा-टहल करती रही।**"[2]

इस प्रकार सूरदास अपने नैतिक बल और चारित्रिक ईमानदारी से समाज में एक उदाहरण

---

1. *सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा, लेखक-मोहनदास करमचंद गाँधी, अनुवादक, महावीर प्रसाद पोद्दार, सस्त साहित्य मण्डल प्रकाशन, दिल्ली 1998, संस्करण-बाईसवीं बार-1998, मुद्रक यातना इन्टरप्राइजेज, शाहदरा, दिल्ली-32, पृ. सं.-108*
2. *रंगभूमि - प्रेमचंद, मनोज पब्लिकेशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2005, पृ. सं.-110*

प्रस्तुत करता है। अब लोगों को उसकी ईमानदारी पर विश्वास होने लगता है। अपनी महानता में वह दूसरों को पीछे छोड़ देता है। इससे प्रभावित होकर गाँव वाले उसकी झोपड़ी बना देते हैं। लेकिन इस बीच जॉन सेवक क्लार्क और राजा साहब से मिलकर सूरदास की जमीन ले लेता है। यद्यपि वह सूरदास को जमीन का मुआवजा भी देता है, लेकिन वह इस मुआवजे को नहीं लेता। उसका मानना है कि जमीन उनकी इच्छा के विरुद्ध ली गई है। जॉन सेवक जमीन लेने के पहले सभी को अपने पक्ष में कर लेता है। सभी को अलग-अलग प्रलोभन देता है। नायक राम पंडे से कहता है—यात्रियों के लिए सड़क किनारे खपरैल के मकान बनवा दिए जायेंगे। बजरंगी से वह कहता है—हाते में गाय-बैल चराने की इजाजत दे दी जाएगी। पान वाले से कहता है—मिल खुलने पर तुम्हारी बिक्री चौगुनी हो जाएगी। यह जानकर सूरदास को बहुत हताशा होती है। वह नायकराम से पूछता है—"**मैं तो तुम्हीं को सब कुछ समझता था, तुम्हारे भी बल पर कूदता था, पर आज तुमने भी साथ छोड़ दिया। अच्छी बात है। मेरी भूल थी कि तुम्हारे बल पर फूला हुआ था। यह उसी की सजा है। अब न्याय के बल पर लड़ूँगा; भगवान ही का भरोसा करूँगा।**"[1]

सूरदास इस जीवन संग्राम में अकेला पड़ जाता है, लेकिन वह हिम्मत नहीं हारता।

महात्मा गाँधी के तर्ज पर वह 'एकला चलो रे' का मार्ग अपनाता है। गाँधी को जब दक्षिण अफ्रीका में ट्रेन से बाहर कर दिया जाता है, तो पहले उनका भी कोई साथ नहीं देता। वे भी इस संघर्ष में अकेले पड़ जाते हैं। उन्होंने अपनी आत्मकथा 'सत्य के प्रयोग' में लिखा है—"**या तो मुझे अपने हकों के लिए लड़ना चाहिए या वापस जाना चाहिए, अन्यथा जो अपमान होते हैं उन्हें सहन करूँ और प्रिटोरिया पहुँचूँ और मुकदमा खत्म करके देश को लौट जाऊँ। मुकदमे को छोड़कर भाग जाना तो नामर्दी होगी।**"[2]

सूरदास भी इसी नामर्दी के विरुद्ध संघर्ष करने का प्रण लेता है। अब गाँव से उसका मोह भंग हो गया है। वह गाँव भी बहुत कम जाता है। वह घूम-घूम कर गाता है और अपनी जमीन

---

1. *रंगभूमि - प्रेमचंद, मनोज पब्लिकेशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2005, पृ. सं.-115*
2. *सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा, लेखक-मोहनदास करमचंद गाँधी, अनुवादक, महावीर प्रसाद पोद्दार, सस्त साहित्य मण्डल प्रकाशन, दिल्ली 1998, संस्करण-बाईसवीं बार-1998, मुद्रक यातना इन्टरप्राइजेज, शाहदरा, दिल्ली-32, पृ. सं.-116*

के लिए फरियाद करता है। उसके गाने में जीवन संघर्ष के साथ-साथ जीवन दर्शन भी है। यह उसकी निम्न पंक्ति से समझा जा सकता है–

भई क्यों रन से मुंह मोड़े?
वीरो का काम है लड़ना, कुछ नाम जगत में करना।
क्यों निज मरजाद छोड़ै?
भई क्यों रन से मुँह मौड़े?
तू रंगभूमि में आया, दिखलाने अपनी माया;
क्यों धरम-नीति को तोडै?
भई क्यों....?

एक दिन सूरदास गाते-गाते जॉन सेवक की कोठी के पास चला जाता है। उसे देखकर मिसेज जॉन सेवक कहती है कि यह तो वही अंधा है, जिसकी जमीन हमने ले ली है। आज यहाँ कैसे आ पहुँचा? अभागे ने रुपयें न लिए अब गली-गली भीख मांगता फिरता है। सहसा सूरदास उच्च स्वर में कहने लगा–"**दुहाई है पंचो दुहाई। सेवक साहब और राजा साहब ने मेरी जमीन जबरदस्ती छीन ली है। हम दुखिया की फरियाद कोई नहीं सुनता। दुहाई है।**"[1]

जॉन-सेवक के कई दोस्त भी पास खड़े थे। उनमें से एक बैरिस्टर साहब ने सूरदास का पक्ष लेते हुए जॉन सेवक से कहा–"**आप किसी को मुआवजा लेने के लिए मजबूर नहीं कर सकते, जब तक आप यह सिद्ध न कर दें कि आप ज़मीन को किसी सार्वजनिक कार्य के लिए ले रहे हैं।**"[2]

जॉन सेवक के विरुद्ध वातावरण बनने लगता है। सूरदास के पक्ष में सोफिया, प्रभु सेवक, क्लार्क आदि चले जाते हैं। अंततः जमीन पर सूरदास की डिग्री हो जाती है। सूरदास हर्षोल्लास में कहता है–"**मेरी मनोकामना पूरी हो गई। हाकिमों ने मेरी जमीन मुझे दे दी। ऐसा तो हो ही नहीं सकता कि कोई काम तन-मन से किया जाए, और उसका कुछ फल न निकले।**"[3]

---

1. *रंगभूमि - प्रेमचंद, मनोज पब्लिकेशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2005, पृ. सं.-162*
2. *वही, पृ. सं.-162*
3. *वही, पृ. सं.-179*

सूरदास जमीन की लड़ाई को धर्म की लड़ाई की संज्ञा देता है। वह कहता भी है—**"मेरा धर्म तो यही है कि जब कोई मेरी चीज पर हाथ बढ़ाए, तो उसका हाथ पकड़ लूँ। वह लड़े, तो लड़ूँ, और उस चीज के लिए प्राण तक दे दूँ। चीज मेरे हाथ आएगी, इससे मुझे मतलब नहीं, मेरा काम तो लड़ना है, और वह भी धर्म की लड़ाई लड़ना।"**[1]

लेकिन सूरदास का यह हर्षोल्लास अधिक समय तक बना नहीं रह पाता। जॉन सेवक किसी-न-किसी बहाने जमीन फिर ले लेता है। अब कारखाना भी लग गया है। सिगरेट का उत्पादन भी होने लगा है। पुतली घर भी खुल गया है। आमदनी तो बढ़ी लेकिन अनाचार और अनैतिकता भी बढ़ गया। छोटे-छोटे बच्चे भी इसमें लिप्त हो गये। जगधर का बेटा विद्याधर, मिठुआ और घिसुआ को इसका चस्का लग गया। अब इन लोगों ने गाँव की महिलाओं पर ही दाव पेंच लगाना शुरू कर दिया। कोई कहता सुभागी जब कमर मटकाती चलती है तो मेरी जान ले लेती है। एक दिन तीनों ने मन बनाया और रात में सुभागी पर टूट पड़े। पकड़े गये। सूरदास सुभागी को अपनी बहन मानता था। स्त्री से इसप्रकार की बदजाती सूरदास के लिए अक्षम्य थी। उन्होंने पुलिस बुलायी। यद्यपि बजरंगी, जगधर, नायकराम आदि ने अपने इज्जत की दुहाई देकर सूरदास को रोकना चाहा। लेकिन सूरदास इस अन्याय को सहन नहीं कर सकता था। उन्होंने साफ शब्दों में लोगों से कहा—**"तो भैया, साफ-साफ बात यह है कि मैं बिना सरकार में रपट किए न मानूंगा, चाहे सारा मुहल्ला मेरा दुश्मन हो जाए।"**[2]

नायक राम सूरदास की न्यायप्रियता को जानता था। लोगों ने उससे सूरदास को समझाने को कहा। उसने मना करते हुए कहा—**"भाई सूरदास मानेगा नहीं; चाहे लाख कहो, मैं तो कह चुका, कहो और हाथ-पैर पड़ूं पर होना-हवाना कुछ नहीं। घीसू और विधा की तो बात ही क्या, मिठुआ भी होता, तो सूरे उसे भी न छोड़ता।"**[3]

---

1. *रंगभूमि - प्रेमचंद, मनोज पब्लिकेशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2005, पृ. सं.-179*
2. *वही, पृ. सं.-354*
3. *वही, पृ. सं.-354*

सूरदास समाज चिंतक के साथ-साथ स्त्रीवादी सोच रखने वाला व्यक्ति भी है। इस घटना ने गांव वालों की आँख खोल दी। कुछ लोग सूरदास के शत्रु बन गये तो कुछ के नजरों में वह महान। दूसरी ओर गाँव वालों को अब महसूस होने लगा कि सूरदास की जमीन बेचने में अपनी सहमति देकर उन्होंने भारी भूल की। यद्यपि कल कारखाने से फायदे तो थे, लेकिन इससे बहुत नुकसान भी हो रहा था। गाँव के बच्चे बिगड़ रहे थे। इसकी पुष्टि जगधर के इस कथन से होती है–"**मेरी भी वही दशा है, भाई, विधाधर को कितना पढ़ाया-लिखाया, मिडिल पास....सो अब रोज वहाँ जाकर जुआ खेलता है।**"[1]

लेकिन अब रोने के सिवा किया भी क्या जा सकता था? दिन-प्रतिदिन गाँव की स्थिति बिगड़ती जाती थी। जॉन सेवक ने अभी तक तो सूरदास की जमीन ही ली थी, लेकिन अब वह पूरे गाँव की जमीन लेना चाहता था। इसके लिए एक दिन वह राजा महेन्द्र कुमार, जायदाद के तखमीने का अफसर, पुलिस, दारोगा सभी को पांडेपुर ले आया। राजा साहब जॉन सेवक के पक्ष में लोगों को समझाने लगा कि सरकार को एक खास सरकारी काम के लिए इस मुहल्ले की जरूरत है। तुम लोगों को उचित दाम देकर जमीन ले ली जाएगी। इस संकट की घड़ी में सभी को सूरदास की याद आती है। सूरदास की दूरदृष्टिता और भविष्यवाणी याद आती है। सभी लोग राजा का विरोध जताना चाहते हैं, लेकिन हिम्मत नहीं होती। यह सूरदास ही था जो राजा का विरोध कर सकता था। उसके पास, साहस, धैर्य और न्याय प्रक्रिया की जानकारी थी। सभी सूरदास को बुलाना चाहता हैं, लेकिन उसे बुलाने के लिए कोई भी नहीं जाता। अंततः सभी लोग जो रकम मिल रहा होता है उसे ही लेकर रफा-दफा होने लगते हैं। सूरदास की बारी आती है, क्योंकि उसकी झोंपड़ी भी मुहल्ले का अंग है।

राजा साहब उसकी झोंपड़ी की कीमत एक रुपया लगाते हैं। सूरदास रुपया लेने से मना करते हुए कहा–"**मैंने तो अपना मकान बेचने को किसी से नहीं कहा।**"[2] वह रुपया नहीं

---

1. *रंगभूमि - प्रेमचंद, मनोज पब्लिकेशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2005, पृ. सं.-351*
2. *वही, पृ. सं.-378*

लेता है। इंद्रदत्त उसे समझाता है कि यह अन्याय है, लेकिन तुम क्या करोगे? सूरदास उनकी भी बात नहीं मानता है। वह कहता है–"**बाप दादों की निशानी दस बीघे जमीन थी, वह पहले ही निकल गई, अब यह झोंपड़ी भी छीनी जा रही है। संसार इसी माया-मोह का नाम है। जब उससे मुक्त हो जाऊँगा, तो झोंपड़ी में रहने न आऊँगा। लेकिन जब तक जीता रहूँगा, अपना घर मुझसे न छोड़ा जाएगा। अपना घर हैं, नहीं देते। हाँ जबरदस्ती जो चाहे ले ले।**"[1]

इन्द्रदत्त ने सूरदास को फिर समझाना चाहा लेकिन वह नहीं माना। राजा साहब ने झोंपड़ी गिराने का हुक्म दे दिया। मजदूर और सिपाही झोंपड़ी की ओर बढ़े। पीछे-पीछे लोगों का समूह भी बढ़ा। भीड़ को समझाने बुझाने का प्रयास किया गया। जब भीड़ नहीं हटी तो पुलिस सुपरिटेडेण्ट ने गोली चलाने का आदेश दे दिया। कई लोग मारे गये। सभी लोग फिर सूरदास की झोंपड़ी के पास चले आये। विनय सबसे आगे था। इससे लोगों में हिम्मत बँधी। सूरदास झोंपड़ी के पास सिर झुकाए बैठा था। सुपरिटेंडेंट को लगा कि सूरदास ही इस झगड़े का मूल है। इसे ही खत्म कर देने से झगड़ा स्वयं ही मिट जाएगा। यह सोचकर उसने सूरदास पर गोली चला दी। गोली उसकी गर्दन पर लगी। सिर लटक गया। भगदड़ मच गई। सूरदास को गोली लगना सेनापति को गोली लगने के समान था। विरोध कमजोर पड़ गया। सभी सूरदास को देखने उनके पास आने लगे। रानी जाह्नवी भी सूरदास का हालचाल पूछने पहुँची। सूरदास ने उन्हें बड़े ही दार्शनिक अंदाज में जवाब दिया–"**कुछ कष्ट नहीं है। खेलते-खेलते गिर पड़ा हूँ, चोट आ गई है; अच्छा हो जाऊँगा। उधर क्या हुआ, झोपड़ी बची कि नहीं?**"[2]

राजा साहब भी मिलने आये। वे सूरदास की नैतिकता और न्यायप्रियता से इतने प्रभावित हुए कि वह चाहते थे कि अपना हृदय खोल कर रख दें। वे स्वयं को रोक नहीं पाये–"**सूरदास, मैं तुमसे अपनी भूलों की क्षमा मांगने आया हूँ। अगर मेरे वश की बात होती, तो मैं आज अपने जीवन को तुम्हारे जीवन से बदल लेता।**"[3]

---

1. *रंगभूमि - प्रेमचंद, मनोज पब्लिकेशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2005, पृ. सं.-379*
2. *वही, पृ. सं.-403*
3. *वही, पृ. सं.-404*

राजा साहब को भी सूरदास ने दार्शनिक अंदाज में जवाब दिया। यह दर्शन उसके जीवन का दर्शन है। 'आरज पथ' है जिस पर वह चला। चलकर बहुत लोग भटक भी जाते हैं, कितने ही रास्ता भी भूल जाते हैं, लेकिन सूरदास 'जस की तस रख दीनी चदरिया' की भाँति इसे अपनाये था। वह राजा साहब को जवाब देता है–"**इसकी चिन्ता न कीजिए। हानि-लाभ, जीवन मरण, जस-अपजस विधि के हाथ है, हम तो खाली मैदान में खेलने बनाए गए हैं। सभी खिलाड़ी मन लगाकर खेलते हैं, सभी चाहते हैं कि हमारी जीत हो, लेकिन जीत एक की ही होती है, तो क्या इससे हारने वाले हिम्मत हार जाते हैं।**"[1]

सूरदास गाँगुली को भी इसी प्रकार का जवाब देता है। वह उसे अपनी एकता की कमी और कमजोरी भी बताता है। वह कहता है–"**तुम जीते, मैं हारा। यह बाजी तुम्हारे हाथ रही, मुझसे खेलते नहीं बना। तुम मंजे हुए खिलाड़ी हो, दम नहीं उखड़ता, खिलाड़ी को मिलाकर खेलते हो और तुम्हारा उत्साह भी खूब है। हमारा दम उखड़ जाता है; हाँफने लगते हैं और खिलाड़ियों को मिलाकर नहीं खेलते, आपस में झगड़ते हैं, गाली-गलौच, मार-पीट करते हैं, कोई किसी को नहीं मानता। तुम खेलने में निपुण हो, हम अनाड़ी हैं। बस, इतना ही फरक है।**"[2]

सूरदास ने एक स्वर में अपना जीवन दर्शन और अपनी कमजोरी बता दिया। उसका मानना है कि हम संगठित होकर नहीं लड़े इसलिए हार गए। हमारे पास लड़ाई की कोई योजना नहीं थी, कोई रूप रेखा नहीं थी, इसलिए हम हार गए। वह अपनी हार स्वीकार भी करता है। इतिहासकारों की नजर में यह हार हो सकती है, लेकिन साहित्यकारों की नजर में यह सूरदास की जीत है। ठीक वैसे ही जैसे 'पद्मावत' में रतनसेन हार कर भी जीत जाता है, और अलाउद्दीन जीत कर भी हार जाता है। साहित्यकारों और इतिहासकारों की दृष्टि में यहीं

---

1. *रंगभूमि - प्रेमचंद, मनोज पब्लिकेशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2005, पृ. सं.-404*
2. *वही, पृ. सं.-415*

मौलिक अंतर है। इतिहासकार तथ्य पर अधिक बल देते हैं, जबकि साहित्यकार जीवन मूल्यों पर।

जॉन सेवक जीत कर भी हार जाता है। आज उसे कोई अच्छा और भला नहीं मानता। सूरदास की जीत इसमें भी है कि उसे देखने के लिए राजा साहब, रानी जाह्नी, जॉन सेवक, मिसेज जॉन सेवक, इन्दु, सोफिया, सभी आते हैं। गाँव के विरोधी भी आज उसके साथ हैं। नायक राम उसे देवता मानता है। भैरों जो उसका जानी दुश्मन था, उसके घर में दो बार आग भी लगा चुका था, आज उसकी सेवा में रत है। यही सूरदास की जीत है। यह उसकी नैतिकता, धर्म परायणता, न्यायप्रियता और ईमानदारी की जीत है। क्यों न इस व्यक्ति की पूजा की जानी चाहिए? सूरदास को प्रेमचंद ने 'रंगभूमि' का नायक बनाया है। वह नायक के रूप में है भी। लेकिन उसके अन्य समकक्ष पात्रों पर पर एक दृष्टि डाल लेना उपयुक्त होगा। मुआयना करने पर प्रतीत होता है कि उपन्यास के सभी पात्र उससे नीचे हैं। डॉ. रामविलास शर्मा ने रंगभूमि का उद्धरण देते हुए, 'प्रेमचंद और उनका युग' पुस्तक में लिखा है–**"प्रेमचंद ने सूरदास का सबसे बड़ा गुण बताया है–अन्याय देखकर उससे न रहा जाता था, अनीति उसके लिए असह्य थी। इस गुण के कारण 'रंगभूमि' के और सभी पात्र उससे नीचे ठहरते हैं।"**[1]

वास्तव में सोफिया और विनय सत्य और निष्ठा का प्रतीक बनना चाहते हैं, लेकिन प्रेम और पुनरुत्थानवादी सोच के कारण उनका पतन हो जाता है। डा. रामविलास शर्मा ने लिखा भी है–**"विनय ने जो पुनरुत्थानवाद का दृष्टिकोण अपनाया था, उसका यही नतीज़ा हो सकता था। वह खुद एक राजा का लड़का था। मान और प्रतिष्ठा के लिए उसने देशभक्ति का अभिनय किया था।प्रजा उसकी नजरों में कुछ न थी।...अपने जागीरदारी वर्ग का सच्चा हिमायती था। इसलिए जब उसने जनता को अपने वर्ग के अधिकारों पर हमला करते देखा तो आपे से बाहर हो गया। हिन्दू जाति की गौरव-गाथा उसके लिए एक चादर थी, जिससे वह अपनी वास्तविकता को ढँकना चाहता था।"**[2]

---

1. *प्रेमचंद और उनका युग, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पहला छात्र संस्करण-1993, आवृत्ति 1995, 1998, पृ. सं.-77*
2. *वही, पृ. सं.-78*

यद्यपि डॉ. गांगुली अलग तरीके से सोचता है, लेकिन उनकी विडंबना है कि वे भी सामंती तत्वों का ही खिलौना बना रहता है। कहने को तो राजा महेन्द्र प्रताप भी स्वयं को जनवादी कहता है–**"यों मैं स्वयं जनवादी हूँ और उस नीति का हृदय का समर्थन करता हूँ; पर जनवाद के नाम पर जो अशांति फैली हुई है, उसका मैं घोर विरोधी हूँ। ऐसे जनवाद से, धनवाद, एकवाद सभी वाद अच्छे हैं।"**[1]

यह कैसा जनवाद है जो विरोध और विद्रोह से डरता है? क्या जनवाद सामंती और पूँजीवादी व्यवस्था के समर्थन से आएगा या फिर विरोध थे? उपर्युक्त कथन में राजा और सामंतों की मानसिकता झलकती है। इससे अच्छा तो सूरदास है। वह जितनी भी लड़ाई लड़ता है दूसरों के लिए। अपनी जमीन बचाना चाहता है, वह भी दूसरों के लिए? कुआँ और धर्मशाला बनवाना चाहता है वह भी दूसरों के लिए। किसी से भी उसका निजी लाभ नहीं है। वह चाहता तो जमीन बेचकर ऐशो-आराम की जिंदगी बसर करता। लेकिन यह उसकी फितरत नहीं। यह उसकी आदत नहीं। वह तो जननायक था। वह तो क्रांतिकारी था। अन्याय उससे देखा नहीं जा सकता। न्याय के लिए उसने राजकीय सत्ता को भी चुनौती दी। वह धैर्य और साहस की प्रतिमूर्ति था। न्याय के प्रति निष्ठा उसकी आत्मानुभूति थी। उसने आत्मा की आवाज को पहचाना। शायद ही उपन्यास में ऐसा कोई पात्र है, जो आत्मा की आवाज को सुनता है। कोई सुनता भी है तो अपने व्यक्तिगत स्वार्थ और लालच के कारण इसे खो भी देता है। सूरदास ही एक ऐसा पात्र है जो 'कबिरा खड़ा बाजार में लिये लुकाठी हाथ' की भाँति इसे हाथ में लिये खड़ा है। उसका यही चारित्रिक बल, आत्मानुभूति, धैर्य और साहस उसे अन्य पात्रों से अलग करता है। यही कारण है कि उससे मिलने राजा से लेकर प्रशासन के अन्य ओहदेदार आते हैं। एक सामान्य विकलांग से वह असाधारण मनुष्य (विकलांग) बन जाता है। जब वह सामान्य विकलांग होता है तो उसकी आवश्यकता भी सामान्य होती है। वह भी जनसामान्य की तरह सोचता है। विकलांगता उसे लाचार और बेबस भी बनाती है। सुभागी जब उसके यहाँ जाती

---

1. *प्रेमचंद और उनका युग, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पहला छात्र संस्करण-1993, आवृत्ति 1995, 1998, पृ. सं.-79*

है और कभी-कभी अपने हाथों से बनाकर खिलाती है तो उसे एक गृहिणी की कमी महसूस होती है। प्रेमचंद ने लिखा है–"**सूरदास संध्या समय लौटा, तो सुभागी ने थोड़ा-सा चबेना उसे जलपान करने को दिया, लुटिया में पानी लाकर रख दिया और उसे आंचल से हवा करने लगी। सूरदास को अपने जीवन में कभी यह सुख नसीब न हुई थी। गृहस्थी के दुर्लभ आनन्द का उसे पहली बार अनुभव हुआ। एक क्षण के लिए उसके मन में एक नयी इच्छा अंकुरित हो आई। सोचने लगा–मैं कितना अभागा हूँ। काश, यह मेरी स्त्री होती, तो कितने आनन्द से जीवन व्यतीत होता।**"[1]

सूरदास को अपने जीवन में एक स्त्री का अभाव महसूस होता है। यह उसके उक्त कथन से व्यक्त होता है। वह सुभागी को अपने साथ रखना भी चाहता है। यद्यपि ऐसा होता नहीं। क्योंकि यह मात्र एक कपोल कल्पना है। अभाव की स्थिति में ऐसा विचार आ ही जाता है। बावजूद इसके वह सुभागी को अपनी 'बहन' मानता है। सुभागी वहाँ रहना चाहती है, लेकिन अपनी बदनामी के कारण वह उसे भैरो के घर भेज देना चाहता है।

एक अर्थ में सूरदास स्त्रीवादी भी है। प्रेमचंद ने अव्यक्त रूप से सूरदास के माध्यम से इसे दिखलाया भी है। वह अपनी लड़ाई को धर्म की लड़ाई कहता है। यह धर्म की लड़ाई आज के 'हिन्दू राष्ट्रवाद' या 'इस्लामिक वर्ल्ड' की तरह नहीं है। उसके धर्म की लड़ाई में अध्यात्मिकता का पुट है। यह अध्यात्म सामाजिक नैतिकता और अनुशासन के नियम से जाकर जुड़ता है। प्रख्यात आलोचक प्रो. पुरुषोत्तम अग्रवाल ने अपनी नवीनतम पुस्तक 'निज ब्रह्म विचार' में धर्म और अध्यात्म पर विस्तार से चर्चा की है। उनका मानना है कि–"**किसी भी धर्म में चार चीजें दिखती हैं। मनुष्य की अध्यात्म पिपासा को तृप्त करने का दावा, सामाजिक नैतिकता और अनुशासन के नियम, आस्था तंत्र (डोग्मा) और अन्य धर्म वालों से अपनी विशिष्ट धार्मिक सामाजिक पहचान।**"[2]

---

1. *रंगभूमि - प्रेमचंद, मनोज पब्लिकेशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2005, पृ. सं.-264*
2. *निज ब्रह्म विचार, प्रो. पुरुषोत्तम अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण 2004, पृ. सं.-23-24*

सूरदास का धर्म या अध्यात्म सामाजिक नैतिकता और अनुशासन से जुड़ता है। वह सामाजिक नैतिकता और अनुशासन के पक्षधर हैं। इसके लिए वह जीवन पर्यंत लड़ता है और लड़ते-लड़ते शहीद होता है।

प्रेमचंद ने 'रंगभूमि' की रचना स्वतंत्रता संग्राम की पृष्ठभूमि में की थी। इस कारण सूरदास के चित्रण को प्रतीकार्थक अर्थ में भी लिया जा सकता है। रचना में उन्होंने सूरदास को नायक के रूप में दिखलाया है। एक नेत्रहीन विकलांग को नायक बनाने के पीछे यह भी दृष्टि हो सकती है कि जब एक विकलांग न्याय के लिए सामंती तथा पूँजीवादी व्यवस्था से लड़ सकता है तो सकलांग क्यों नहीं?

डॉ. रामविलास शर्मा ने भी अपनी पुस्तक 'प्रेमचंद और उनका युग' में इससे सहमति जतायी है। वे लिखते हैं–" **'रंगभूमि' उपन्यास सन् 30 का आंदोलन छिड़ने के पहले लिखा गया था। प्रेमचंद ने मानो भविष्य की ओर देखते हुए तमाम हिन्दुस्तान की जनता की तरफ से अंग्रेजों को चुनौती देते हुए सूरदास से कहलवाया था–"फिर खेलेंगे, जरा दम ले लेने दो।"**[1]

सूरदास यह लड़ाई गाँधीवादी तरीके से लड़ता है। इस बात की पुष्टि प्रो. मैनेजर पांडेय के निम्न कथन से होती है। उन्होंने 'अनभै साँचा' में लिखा है–"**रंगभूमि का सूरदास, मुक्तिबोध के शब्दों में भारतीय विवेक चेतना का प्रतीक है, बहुत कुछ गाँधी के समान। वह जीवन में गाँधी जैसा रहा और उन्हीं की तरह मारा गया। क्या सूरदास की हत्या में गाँधी की हत्या का पूर्वाभ्यास नहीं है?**"[2]

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि सूरदास एक क्रांतिकारी तथा सामाजिक चिंता से युक्त व्यक्ति था। उसके जीवन का मूल मंत्र था संघर्ष। उसने जीवन को रणक्षेत्र समझा। जिंदगी को उसने एक उद्देश्य से जोड़ा। इस कारण वह एक साधारण विकलांग से असाधारण विकलांग बन गया। अपनी नैतिक बल और चारित्रिक शुचिता के कारण वह हमेशा अनुकरणीय बना रहेगा?

---

1. *प्रेमचंद और उनका युग, डा. रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पहला छात्र संस्करण-1993, आवृत्ति 1995, 1998, पृ. सं.-76-77*
2. *अनभै साँचा, प्रो. मैनेजर पाण्डेय, पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2002, पृ. सं.-210*

चतुर्थ अध्याय

'रंगभूमि' के बाद कुछ विशेष प्रश्न

'रंगभूमि' के बाद कुछ विशेष प्रश्न

प्रेमचंद के 'रंगभूमि' के बाद विकलांगों के जीवन और उसके संघर्षों को लेकर कई प्रश्न उठ खड़े होते हैं। क्या प्रेमचंद ने विकलांगों के जीवन का सही चित्रण किया है? क्या उनके रचनाधर्मिता में विकलांगों के प्रति दया और सहानुभूति का ही पुट है, या फिर अन्य संदेश देती हैं? प्रेमचंदोत्तर साहित्यकारों ने विकलांगों के जीवन को किस रूप में अभिव्यक्त किया है? इत्यादि।

प्रेमचंद हिन्दी साहित्य के प्रमुख रचनाकार हैं। उनकी भावभूमि में विकलांगों का भी स्थान है। यह विकलांगों के लिए एक महत्वपूर्ण बात है। वे रंगभूमि के नायक सूरदास को प्रारंभ से एक सहज, सरल और निःसहाय विकलांग के रूप में चित्रण करते हैं। प्रारंभ में उनका जीवन एक सामान्य व्यक्ति से भी दयनीय होता है, लेकिन अपनी समाजोन्मुखी सोच नैतिक बल, ईमानदारी और चारित्रिक शुचिता के कारण समाज में अपना स्थान बनाता है।

'रंगभूमि' में एक महत्वपूर्ण सवाल अनुत्तरित रह गया है जिसपर ध्यान कम लोगों का जाता है, वह है सूरदास का दाम्पत्य जीवन जीने की लालसा। यह सवाल संजय लीला भंसाली ने भी अपनी फिल्म 'ब्लैक' में उठाया है। यद्यपि वे इसे विस्तार से नहीं दिखलाते। फिर भी यह महत्वपूर्ण सवाल है।

प्रेमचंद ने सूरदास का चित्रण स्वतंत्रता संग्राम को ध्यान में रख किया है, ऐसा प्रतीत होता है इसका एक प्रतीकात्मक अर्थ भी है। जिसमें एक विकलांग को 'नायक' बनाया गया है। यह 'नायक' उस समय के युवा वर्ग को प्रोत्साहित करने के लिए किया गया था। सूरदास का चित्रण यथार्थपरक न होकर अतिशयोक्ति पूर्ण हो गया है। साधारणतया विकलांगों के जीवन में ऐसा होता नहीं। खासकर ग्रामीण पृष्ठभूमि में पलने और बढ़ने वाले विकलांगों को तो अपने

अधिकारों के बारे में भी जानकारी नहीं होती। समाज का आदर्श बनना तो बहुत दूर की बात है। यद्यपि इतिहास में कई उदाहरण हैं, जिसमें विकलांगों ने स्वयं को समाज के सामने साबित किया है। अपनी योग्यता और प्रतिभा से समाज को चकित किया है और अपने व्यक्तित्व का लोहा मनवाया है। चाहे वह अष्टावक्र हों या फिर आधुनिक युग में हॉकिन्स, हेलन केलर, रूजवेल्ट आदि। महान तत्ववादी अष्टावक्र को भी जीवन में कई कठिनाइयों से गुजरना पड़ा है। उसका जीवन 'गुलाबों की सेज' नहीं था। उसने विकलांगता के बावजूद स्वयं को साबित किया। वह वदान्य ऋषि के पास शास्त्रार्थ करने जाता है। उनकी बेटी सुप्रभा से उनका प्रेम हो जाता है। ऋषि और उनकी पत्नी भी अष्टावक्र की विद्वता से प्रभावित हो जाती हैं। अष्टावक्र उपयुक्त समय पाकर वदान्य ऋषि से सुप्रभा का हाथ मांगता है। ऋषि वदान्य तो बहुत खुश हो जाते हैं, लेकिन उनकी पत्नी अष्टावक्र की विकलांगता की ओर इशारा करते हुए कहती हैं—**"विकलांग ब्राह्मण से पुत्री का विवाह करना अपनी पुत्री को कुएं में डालने जैसा ही है। विकलांग व्यक्ति अपनी पत्नी को क्या सुख दे सकता है? विवाह ज्ञान-चर्चा के लिए नहीं किया जाता। विवाह में ज्यादा शारीरिक गुणों को महत्व दिया जाता है।**[1]

ऋषि और उनकी पत्नी में इसे लेकर भारी वाद-विवाद होता है। अंत में यह निर्णय लिया जाता है कि अष्टावक्र के सामने इतना कठिन शर्त रख दिया जाय कि वह स्वयं इसे पूरा कर न पाए और इससे पिण्ड भी छूट जाएगा। ऋषिवर वदान्य ने उसके समक्ष शर्त रखते हुए कहा—**"विप्रवर, आप पवित्र उत्तर दिशा की ओर जाएँ। जब आप कुबेर की अलका पुरी लाँघकर हिमालय पर्वत पार करेंगे तो आपको सिद्धों और चारणों द्वारा सेवित भगवान रूद्र के निवास स्थान कैलाश पर्वत को लाँघ कर आएंगे तो हम अपनी बेटी की शादी आप से कर देंगे।"**[2]

अष्टावक्र इस चुनौती को स्वीकार करता है और इसे पूरा भी करता है। यानी अपनी सारी विद्वता के बावजूद अष्टावक्र को अग्नि परीक्षा से गुजरना पड़ता है। उन्हें साबित करना पड़ता

---

1. *अष्टावक्र, लेखक-विनोद कुमार मिश्र, अमर सत्य प्रकाशक, प्रीतविहार दिल्ली, प्रथम संस्करण-2005, पृ. सं.-195*
2. *वही, पृ. सं.196*

है कि मैं हिमालय पर चढ़ सकता हूँ। यह है महान भारतीय समाज की महान सोच? यह है विकलांगों के प्रति समाज की मानसिकता।

प्रेमचंद के बाद के उपन्यासकारों ने भी विकलांगों का जीवन चित्रण सहानुभूतिपूर्ण ही किया है। दया और सहानुभूति का पुट लगभग प्रत्येक उपन्यास में मिलता है। 'ज्यों मेंहदी को रंग' उपन्यास में रोमांस के साथ-साथ यथार्थ का भी चित्रण है। इसमें दया और सहानुभूति का पुट नहीं है। अलका सरावगी का 'कोई बात नहीं' उपन्यास में भी एक किशोर विकलांग के बाल मनोविज्ञान का यथार्थपूर्ण चित्रण है।

'रंगभूमि के बाद कुछ विशेष प्रश्न' शीर्षक अध्याय में यह सवाल उठाया जाना लाजिमी होगा कि क्या साहित्यिक वर्ग को विकलांगों का चित्रण दया और सहानुभूतिपूर्वक ही करना चाहिए? क्या विकलांग के यथार्थपरक जीवन संघर्ष को लेखनी का माध्यम नहीं बनाया जाना चाहिए? इत्यादि।

यद्यपि कई सकलांग भी किसी--न-किसी रूप में विकलांग होते हैं। विकलांगता को शारीरिक स्तर पर ही नहीं लिया जाना चाहिए। इसे मानसिक स्तर पर भी समझे जाने की जरूरत है। कभी-कभी तो सकलांग भी विकलांग हो जाते हैं। हेलन केलर ने इसका समर्थन भी किया है। अनिमा सेन ने हेलर केलर का उद्धरण देते हुए [illegible] लिखा है—**"कभी-कभी सकलांग भी किसी विशेष परिस्थिति में विकलांग बन जाते हैं। उदाहरण के लिए एक लंबा व्यक्ति तो बस में अपना स्थान बना सकता है। वह बस के ऊपरी पायदान को पकड़ कर सफर कर सकता है जबकि एक नाटा कद का व्यक्ति ऐसा नहीं कर सकता। इस स्थिति में एक सकलांग व्यक्ति की विकलांग जैसा अनुभव करने लगता है।"**1

इन सारे प्रश्नों पर यथार्थपरक ढंग से सोचने पर स्पष्ट होता है कि विकलांग होते नहीं, बल्कि बनाये जाते हैं। यदि इन्हें अवसर दिया जाय तो बहुत हद तक यह सकलांगों को पीछे छोड़ सकते हैं।

---

1. *Anima Sen, psycho-social integration of the Handicapped, a challenge of the society, Mittal Publication, Delhi, First Edition 1988, p. 2*

उपसंहार

उपसंहार

लघु शोध-प्रबंध हिन्दी उपन्यासों में विकलांगों का जीवन संघर्ष–रंगभूमि के 'विशेष संदर्भ में' कुल चार अध्याय हैं। पहले अध्याय में पश्चिमी समाज और भारतीय समाज में विकलांगों के जीवन स्थिति पर चर्चा की गई है।

प्रारंभ में, भारतीय समाज और पश्चिमी समाज में विकलांगों को लेकर एक ही प्रकार की सोच थी। यूनान और स्पार्टा में तो इसकी स्थिति और भी दयनीय थी। वहाँ भी विकलांगों को 'उत्पादन के साधन' से जोड़ कर देखा जाता था। प्रथम अध्याय में पश्चिमी समाज और भारतीय समाज की तुलना की गई है। धर्मभीरूता और अंधविश्वास के कारण भारतीय समाज में विकलांगों को दया के साथ जीने की सुविधा प्राप्त थी। बाद में पश्चिमी देशों में भी बदलाव आया। 'विश्व मानवाधिकार आयोग' तथा कुछ अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं के कारण पश्चिमी देशों में अभूतपूर्व परिवर्तन आया। वहाँ विकलांगों को बराबरी का हक मिला। उन्हें भी समाज में यथोचित सम्मान तथा अवसर प्रदान किया गया। जहाँ तक भारतीय समाज की बात है तो यह पश्चिमी समाज से अभी भी बहुत पीछे है। पश्चिमी समाज में मीडिया की प्रभावशाली भूमिका रही है, जिसके कारण विकलांगों की समस्याओं को जनता तक पहुँचाने में मदद मिली। भारत में मीडिया इस तरह से प्रभावशाली नहीं है। यानी इस संदर्भ में भारतीय मीडिया को अभी लंबी दूरी तय करनी है।

दूसरा अध्याय हिन्दी कथा साहित्य में विकलांगों का जीवन संघर्ष को बयान करती है। इसमें प्रेमचंद से लेकर अलका सरावगी तक के कथाकारों को शामिल गया गया है। प्रेमचंद की भावभूमि और अलका सरावगी की भावभूमि में अंतर भी दिखाई देता है। समय और परिस्थितियों के अनुसार रचनाकारों के भावबोध में बदलाव आना लाजिमी है। अलका सरावगी ने नये भावबोधों से युक्त विकलांगता का वर्णन किया है। विकलांग समाज से कैसे एिलिनिएट कर जाता है। इस अध्याय में इसका मार्क्सवादी दृष्टि से चित्रण किया गया है।

तीसरे अध्याय में प्रेमचंद के उपन्यास 'रंगभूमि' के नायक सूरदास का विकलांगता की दृष्टि से चर्चा की गई है। उनका जीवन कैसे रंगभूमि बन जाता है, उसका यथार्थपरक चित्रण किया गया है। चौथे अध्याय में विकलांगता को लेकर महत्वपूर्ण सवालों को उठाया गया है।

एक सवाल प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से शोध में शामिल उपन्यासों पर हावी रहा है वह है—विकलांगों के दाम्पत्य जीवन पर समाज की सोच। अधिकांश उपन्यासकारों ने इसे छूने का प्रयास किया है, लेकिन एक सम्मानजनक हल निकालने में असफल रहे हैं। साहित्यिक वर्ग इसका आदर्शवादी हल ही ढूँढ़ पाते हैं; जो सार्वजनिक तथा व्यवहारिक जीवन में अप्रासंगिक है। यह सवाल शायद उस समय तक अनुत्तरित रहेगा जब तक विकलांगों को आर्थिक रूप से सुदृढ़ न बना दिया जाय। विकलांगों के दाम्पत्य जीवन का सवाल उसके आर्थिक सुदृढ़ता से बहुत हद तक जुड़ती है।

ग्रन्थानुक्रमणिका

- आधार ग्रन्थ
- संदर्भ ग्रन्थ
- पत्र-पत्रिकाएं

संदर्भ ग्रन्थ सूची

आधार ग्रंथ

1. अलका सरावगी : कोई बात नहीं
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली,
पहला संस्करण-2004

3. अमृतलाल नागर : खंजन नयन
शान प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली,
प्रथम संस्करण-1981

2. श्रीलाल शुक्ल : रागदरबारी
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
द्वितीय संस्करण-1985

4. प्रेमचंद : रंगभूमि
मनोज पब्लिकेशन, दिल्ली
प्रथम संस्करण-2005

5. प्रियंवद : वे वहाँ कैद हैं
संवाद प्रकाशन मुंबई, मेरठ,
प्रथम संस्करण-1994, दूसरा संस्करण-2002

6. फणीश्वरनाथ रेणु : मैला आँचल
राजकमल प्रकाशन दिल्ली, प्रथम संस्करण-1954,
सातवीं आवृत्ति-2001

7. मृदुला सिन्हा : ज्यों मेहंदी को रंग
प्रभात प्रकाशन, दिल्ली
प्रथम संस्करण-2003

8. राजा राधिका रमण प्रसाद सिंह :सूरदास
राजा राधिका रमण ग्रंथावली, तीसरा खण्ड,
श्री राजराजेश्वरी साहित्य मंदिर पटना-14, अशोक प्रेस,
पटना, प्रथम सं.-1978

संदर्भ ग्रंथ

1. डा. देशराज कौशिक अमृत लाल नागर के उपन्यास :नये मूल्यों की तलाश
प्रकाशन संस्थान, दिल्ली,
प्रथम संस्करण-1985

2. डा. पुष्पा बंसल अमृत लाल नागरः भारतीय उपन्यासकार,
दिनमान प्रकाशन, दिल्ली,
प्रथम संस्करण-1987

3. इन्द्रनाथ मदान : हिन्दी उपन्यास : एक नई दृष्टि
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पटना,
प्रथम संस्करण-1975

4. प्रो. पुरुषोत्तम अग्रवाल : विचार का अनंत
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
पहला संस्करण - 2000

5. प्रो. मैनेजर पांडेय : अनभै सांचा, पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली
प्रथम संस्करण, 2002

6. डॉ. बिनोद मिश्र : **विकलांगों के अधिकार**
कल्याणी शिक्षा परिषद, दरियागंज, दिल्ली,
प्रथम संस्करण 2005

7. प्रो. पुरुषोत्तम अग्रवाल : **निज ब्रह्म विचार**
राजकमल प्रकाश, नई दिल्ली
पहला संस्करण-2004

8. नरेन्द्र मोहन (सं.) : **आधुनिक हिन्दी उपन्यास**
मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, दिल्ली,
प्रथम सं.-1975

9. डा. रामविलास शर्मा : **प्रेमचंद और उनका युग**
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
पहला छात्र, संस्करण, 1993
आवृत्ति 1998

संदर्भ ग्रंथ

1. **Anima Sen** : **Psychol Social integration of the Handicapped,**
Mittal Publications, New Delhi,
First Edition-1968

2. **C.H. Kundun**
Editor-in-Chief : **State of Disability in India 2000,**
Publication Council of India,
Published - 2000

3. **Dr. G.N. Karna** : **United Nations and Rights of Diabled persons,**
A.P.H. Publishing Corporation,
New Delhi, 1999

4. **M. Haralambos with R.M. Head,** : **Sociology-Thesses and prospectives** Oxford University Press, Oxford, New York, Printed at Chaman offset, Delhi-06 and Published by Manzar Khan, Oxford University Press, New Delhi-01

5. **Marx** : **Economic and Philosophic Monuscripts of 1844,** progress publishers, Moscow, First Published -1959, Fifth revised Edition-1977

6. **Nicholar Abercourbic** : **The Penguin Dctionary of Sociology-Stepher Hill and Bryar S. Turues,** Published by the penguin Group, London, England, First Published - 1984, Third Edition - 1994

7. **Dr. R.C. Dutta** : **A History of Civilization in Ancient India,** Vistor Publication, New Delhi, 1972

8. **Dr. S.N. Gajendragadkar:** (Editor) **Disabled in India** Somaiya Publications, Bombay, First Edition, 1983

9. **V.P. Verma** : **Studies in Hindu Political, thought and its Metaphysical Foundation,** Motilal Banarsidas, New Delhi- 2nd Edition, 1959

MAGAZINE

i. A Hand Book Schemes for Children with disabilities : Role of the Panchayati Raj Institutions planning commission, Goverment of India, New Delhi

ii. Journey Towards promotion of Inclusive Education, August 2004 to March 2005, Annexure - V, Parlimantary Debates, Rajaya Sabha Official report supplement to part -2 Tuesday, 21st Dec., 2004, Published by NCPEDP, Supported by Amici Di Raoul Follerean AIFO.

iii. The National Trust for the Welfare of person with Government of India, Ministery of Social Justice and Empowerment, Dec, 2004, Volume-3

iv. Disability Handicape & Society, Volume 3, No. 2 1988, Editor-Len Bartor, Department of Education, Bristol polytecnic.

v. The Problem of Marginal Man-Stonequist, The American Journal of Sociology, July, 1935.